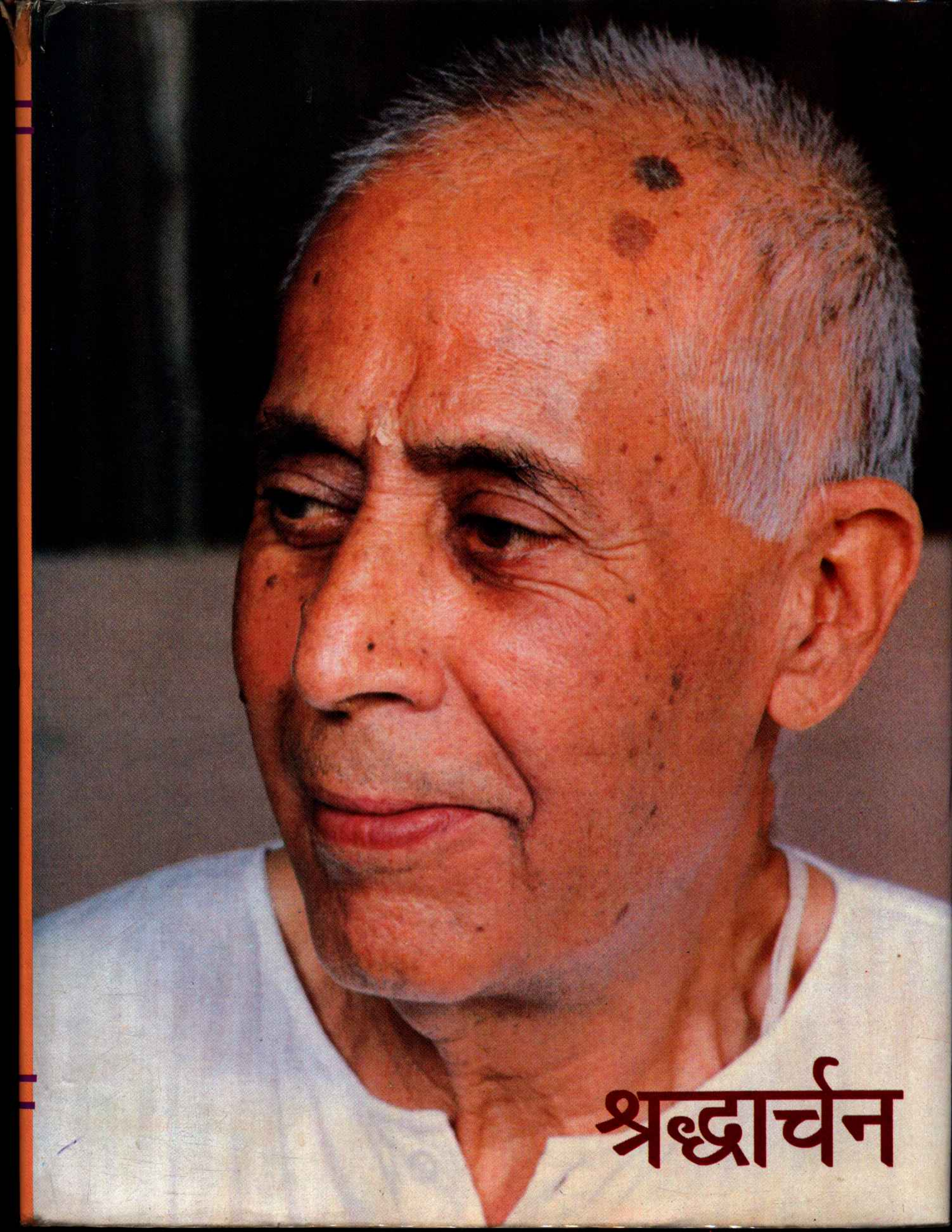


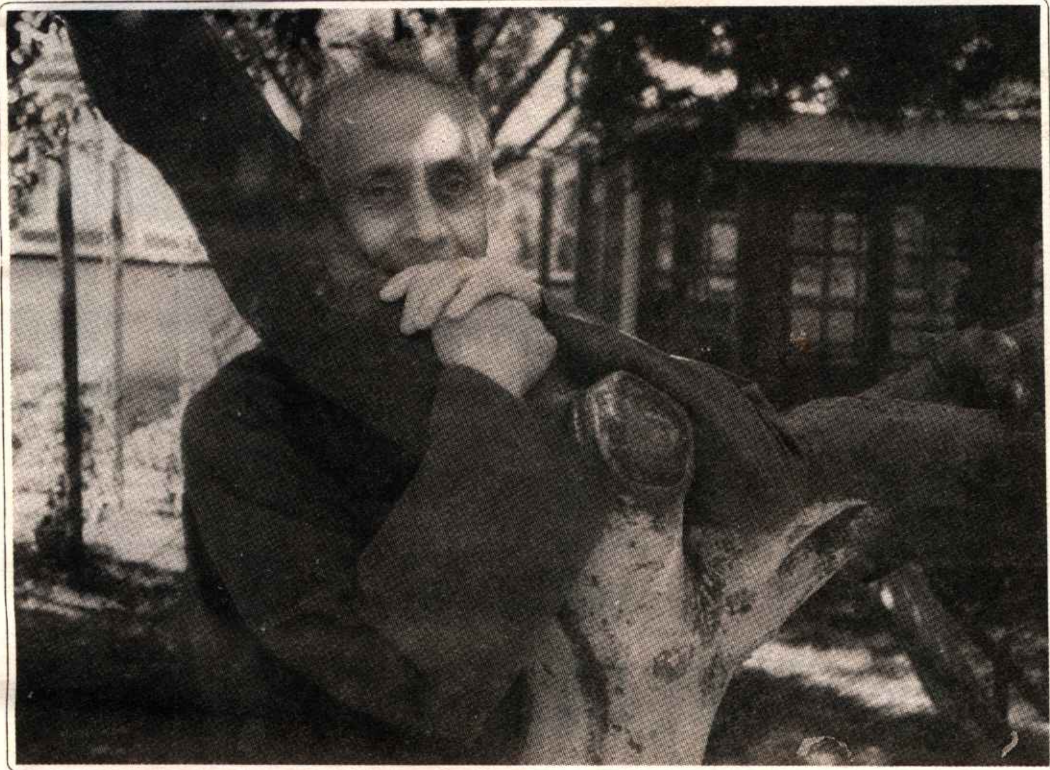
श्रद्धार्चन

श्रद्धार्चन



।। जय गुरुदेव ।।

श्रद्धार्चन



प्रेम की धारा बहाते हुए ।

संपादिका

पूज्य श्री प्रभा जी

प्रकाशिका :-
कमला बाबा
पारमार्थिक चैरिटेबल ट्रस्ट
नई दिल्ली

प्रकाशन तिथि :-
वैशाख कृष्ण पक्ष द्वादशी,
विक्रमी स० २०५५, २३ अप्रैल १९९८

मुद्रक :-
राधा प्रेस,
२४६५, गांधी नगर, दिल्ली–११००३१

प्रथम संस्करण :-
एक हजार प्रतियाँ

न्यौछावर :-
१५१ /–रुपये मात्र

प्राप्ति स्थान :-

१. **ईश्वर आश्रम ट्रस्ट,**
श्री नगर, काश्मीर

२. **वेणु विनोद चैरिटेबल ट्रस्ट**
वृन्दावन

३. **ए. एल. चड्ढा**
वृन्दावनम्, २४/३७, फरीदाबाद–१२१००३



सौम्य दर्शन



आभार



श्री कमला जी बाबा

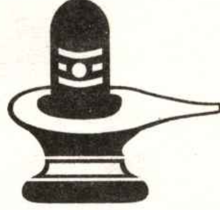
जिनका जीवन ही, चिरकाल से,
श्री गुरु चरणों में समर्पित है।



वात्सल्य मूर्ति



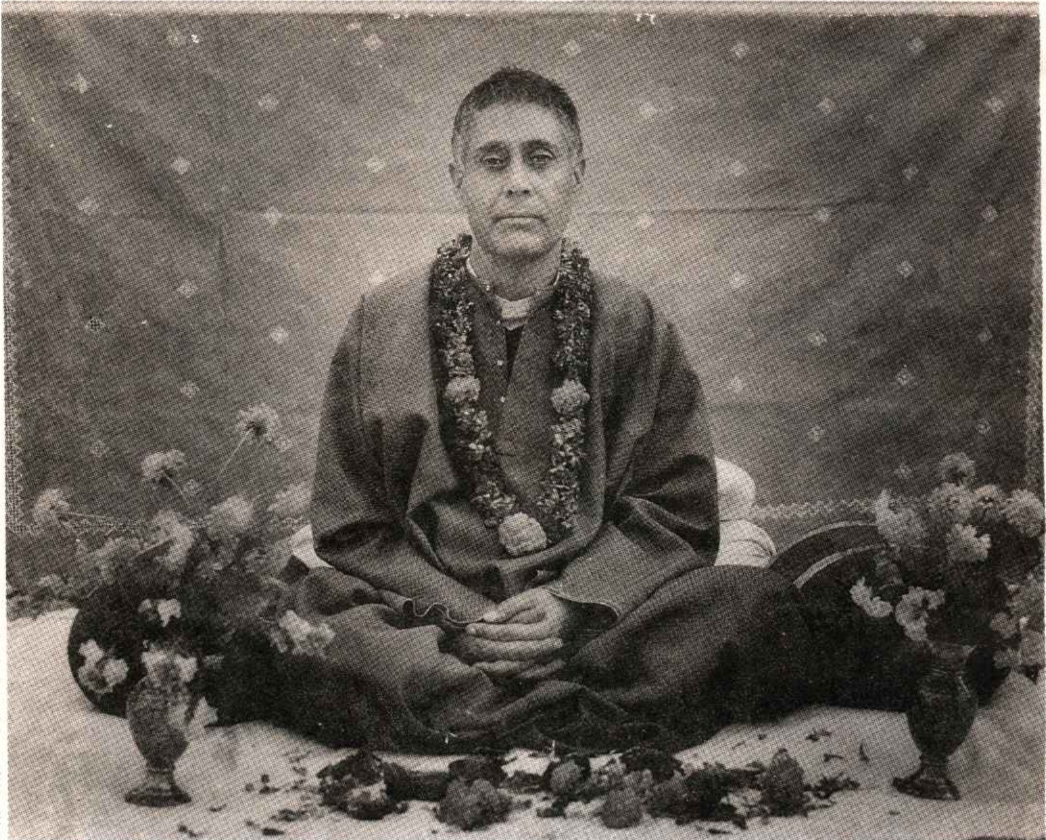
अपने इष्ट के साथ



सत्यम्

शिवम्

सुन्दरम्



शिव स्वरूप श्री ईश्वर स्वरूप



ब्रह्ममयी दृष्टि

काव्यमाला

श्रीसाम्बप्रणीता

❀साम्बपञ्चाशिका

राजानकश्रीक्षेमराजकृतया टीकया समेता ।

पुष्णन्देवानमृतविसरैरिन्दुमास्त्राव्य सम्य-
ग्भाभिः स्वाभी रसयति रसं यः परं नित्यमेव ।
क्षीणं क्षीणं पुनरपि च तं पूरयत्येवमीदृ-
ग्दोलालीलोल्लसितहृदयं नौमि चिद्भानुमेकम् ॥ १ ॥

एतदावेशवैवश्यप्रोन्मिषद्भक्तिभाजा वयम् ।
विमृशामो मनाक्छ्रीमत्साम्बपञ्चाशिकास्तुतिम् ॥ २ ॥

❀ इयं सूर्यस्तुतिर्भगवतो वासुदेवस्य पुत्रेण वृष्णिवंशभूषणेन श्रीसाम्बेन प्रणीतेति टीकाकारः प्रारम्भे समाप्तौ च वदति । वाराहपुराणे चैकसप्तत्युत्तरशततमेऽध्याये —
"ततः साम्बो महाबाहुः कृष्णात्मजो ययौ पुरीम् । मथुरां मुक्तिफलदां रवेराराधनोत्सुकः ॥
साम्ब पञ्चाशकैः श्लोकैर्वेदगुह्यपदाक्षरैः । यत्स्तुतोऽहं त्वया धीर तेन तुष्टोऽस्मि ते सदा ॥"
इत्यादिश्लोकैः साम्बस्य पञ्चाशच्छ्लोकात्मकरविस्तुतिनिर्माणं प्रतीयते । स्तुतिस्तु तत्र नास्ति। सा च कदाचिदियमेव स्यात् । + अयं टीकाकारो राजानकक्षेमराजस्तु कश्मीरेषु ख्रिस्ताब्दीयैकादशशतकप्रारम्भे आसीत् । यतोऽयमात्मानं श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तशिष्यत्वेन वर्णयति । ग्रन्थाश्चैतत्कृता एते ज्ञायन्ते — परमार्थसंग्रहवृत्तिः, प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, भैरवानुकरणस्तोत्रम्, साम्बपञ्चाशिकाटीका, स्तवचिन्तामणिवृत्तिः, स्पन्दनिर्णयः, स्पन्दसन्दोहः, स्वच्छन्दोद्योतः । इयं साम्बपञ्चाशिकाटीका प्रत्यभिज्ञाशास्त्रानुसारिणी वर्तते । तत्र प्रमाणत्वेन धृता एते — आम्नायः, कालिकाक्रमः, कालोत्तरम्, नन्दिशिखा, भर्गशिखा, भैरवा-

सोऽयं परामृतरसा रसज्ञैरिह रस्यताम् ।
आयष्याज्ज्यामृतस्पर्शः शान्तचद्या हि शान्तये ॥ ३ ॥

समस्तागममहाम्नायरहस्यविन्महायोगी महत्संप्रदायसंपूर्णः श्रीवासुदेवस्य भगवतः पुत्रः श्रीसाम्बः स्वात्मार्कस्वत्स्तुतिं जगतोऽनुग्रहाय वक्तुमुपक्रमते —

पूज्य श्री प्रभा जी



सम्पादकीय

कृष्ण-भक्ति-रस का रसास्वादन करने में आजीवन तत्पर बने हुए सन्त महामना पूज्य बालकृष्ण जी महाराज से कौन वृन्दावनवासी परिचित न होगा। ई० सन् १९९६ में उनके गोलोक में जाने पर उनकी पुण्य-स्मृति में उनके भक्त लोगों ने 'रसार्चन' नामक पुस्तक की रचना की। इस पुस्तक को देखकर मन अति प्रभावित हुआ। हमारी आदरणीय गुरु बहिन सुश्री कमला जी बावा का मन इस पुस्तक को देखकर अति हर्षित हुआ। फल यह हुआ-उनके मन में अपने गुरुदेव श्री ईश्वर-स्वरूप जी महाराज, स्वामी लक्ष्मण जी के प्रति भी इसी प्रकार का ग्रन्थ प्रकाशित करने का संस्कार अंकुरित हुआ। उन्होंने अपने मन का शुभ-संकल्प अपने आराध्यदेव परलोकवासी गुरु महाराज के चरणों में समर्पित किया। गुरुदेव आशुतोष तो थे ही, उन्होंने इस संकल्प को फलित बनने की स्वतः सुविधा प्रदान की। श्री लाल जी चढ्ढ़ा जो श्रीईश्वर- स्वरूप जी महाराज के परम स्नेह के पात्र हैं, कमला जी ने यह शुभ कार्य उनके हाथ में सौंपा। सौभाग्वश मैं श्रीनगर से दिल्ली दिसम्बर के मास में आई। लाल जी ने मुझ तक यह शुभ बात पहुँचाई। गुरु-कृपा से मैंने अपनी ओर से तो सभी गुरु भाइयों और गुरु-बहनों से इस कार्य में योग-दान देने के लिए कहा, किंतु कइयों ने तो बात हंस के टाल दी, पर गुरु-शक्तिपात से आघ्रात कई भक्तों ने, अपने मानसिक उद्गार जो उनका गुरुवर्यों के प्रति था, उन का बड़े परिश्रम, भक्ति तथा अनन्य स्नेह में विभोर होकर हम तक लिखकर पहुँचाया। इस का मुख्य कारण यह भी था कि अपनी जन्म-भूमि से मूलतः वियुक्त होकर गुरुदेव की शीतल छाया से भी वंचित हो जाने से इनका हृदय छलनी हो चुका था, इसी हेतु अपने हृदय की मरहम-पट्टी करने का सुअवसर देखकर इन महानुभावों ने जो कुछ भी अपने गुरुवर्य के प्रति लिखा, उसके लिए कमला जी व हम सब उनके आभारी हैं।

इसके अतिरिक्त वृन्दावनवासियों ने भी गुरुवर्य के प्रति श्रद्धाजंलियाँ समर्पित की हैं। श्री स्वामी ईश्वर-स्वरूप जी महाराज का व्यक्तित्व अपनापन लिये था। बचपन से ही भगवान शंकर में अनन्य प्रीति रखने वाले योगीराज गुरुवर्यं के प्रति जितना कहें कम है। जिन महानुभावों ने उनके दर्शन किये हैं, वे स्वयं उनकी महानता का मूल्यांकन कर सकते हैं। हम अकिंचन अधिक क्या कह सकते हैं। उनकी पावन- स्मृति बनी रहे, इसी लक्ष्य से यह पुस्तक आप के हाथों में आ रही है।

सन्त श्री बालकृष्ण जी महाराज हमारे गुरु प्रवर ईश्वर-स्वरूप जी (लक्ष्मण जी) महाराज के परम मित्र और सुहृदृ थे। एक ने अपने इष्ट-देव भगवान् कृष्ण की जन्म-भूमि वृन्दावन में रहकर काल-यापन किया और दूसरे सन्तवर्य ने भगवान् शंकर के निजी निवासस्थान कश्मीर के श्रीनगर में अवस्थित ईश्वर-पर्वत के दामन में आजीवन रहकर अपने राज-योग से इस धरा-धाम को पवित्र किया था। दोनों महान विभूतियों की स्मृति बनी रहे। इसी प्रयोजन से इस पुस्तक का निर्माण हुआ है।

इसके अतिरिक्त श्री लाल जी चढ्ढ़ा ने इस ग्रन्थ में स्वामी जी महाराज के कई भावों से खचित चित्रों को देकर बहुत ही प्रशंसनीय काम किया है। इतना ही नहीं स्वामी जी महाराज की प्रधान शिष्या सुश्री शारिका देवी जी जिनका स्वर्गारोहण अपने गुरुदेव से पूर्व छः मास, फाल्गुन कृष्णपक्ष तृतीया को हुआ था, उनके मनोमोहक चित्रों को भी इस ग्रन्थ में स्थान दिया है। देवी जी, बाल-ब्रह्मचारिणी, तपस्वी गुरु-सेवा में रत, त्याग और सहन शक्ति की प्रत्यक्ष साकार मूर्तिं थी। कश्मीर की प्रायः सभी जनता उनका दर्शन करके अपने आपको कृत-कृत्य समझती थी। वृन्दावनवासी महाराज जी के शिष्य भी उनका हृदय से आदर करते थे। उनके विषय में भी कई महानुभावकों ने उनके जीवन में घटित घटनाओं का उल्लेख इस ग्रन्थ में किया है। उन सज्जनों के प्रति हम हृदय से आभार प्रकट कर रहे हैं।



हमारी गुरु बहिन सुश्री कमला जी बावा के पिता जी, आदरणीय लाला ताराचन्द जी थे। वे काश्मीर के राजा हरीसिंह जी के समय में शालामार में अवस्थित फार्म बाग के मैनेजर थे। वहां सपरिवार रहने से लाला साहब का आना जाना, गुरुवर्य ईश्वर स्वरूप जी से लगा रहा। इनकी कन्या कमला जी के पतिदेव श्री इन्द्र सिंह बावा, जो सेना के वरिष्ठ नायक थे, उनका देहान्त अल्पायु में ही सिंगापुर की लड़ाई में वीरयोद्धा के रूप में हुआ। कमला जी की आयु उस समय अनुमानतः २७-२८ वर्ष की थी। लाला साहब जी ने उन्हें श्रीमान् ईश्वर स्वरूप जी के चरणों में बैठने का सुपरामर्श दिया-फल यह हुआ कमला जी तन, मन से स्वामी जी महाराज की सुपात्र शिष्या बन गईं। महाराज जी की आज्ञा का पालन करना, उनके जीवन का ध्येय बन गया। इस प्रकार बीसों वर्ष व्यतीत हो गये। श्री महाराज जी के शिव-लोक में जाने से उनका हृदय छलनी हो गया, इसकी मरहमपट्टी करने के लिए वे आदरणीय सन्त शिरोमणि बालकृष्ण दास जी से सुपरामर्श लेने के लिए गईं। उनके कल्याणमय परामर्श का फल ही 'श्रद्धार्चन' के रूप में फलित हुआ है। बहिन कमला जी के असमय में ही स्वर्गारोहण होने से हम सभी को हार्दिक खेद हुआ, वे इस अपने सत्य-संकल्प रूपी वृक्ष का सुमधुर फल चखने से वंचित रहीं किन्तु परोपकार का फल तो अवश्य उन्हें ही प्राप्य है। कहा भी है :-

''परोपकाराय वहन्ति नद्याः
परोपकाराय दुहन्ति गावाः
परोपकाराय फलन्ति वृक्षाः
परोपकाराय सतां विभूतयः।।

सो वह अविस्मरणीय कार्य कर गईं। सभी भक्तजन इस ग्रन्थ के पढ़ने से लाभान्वित होंगे। अतः कमला जी की आत्मा भी सुखी होगी। यह हमारी धारणा है।

- गुरुकृपावगाहिनी
प्रभा देवी

डॉ. कर्ण सिंह
संसद सदस्य
(राज्य सभा)



३, न्याय मार्ग
चाणक्यपुरी
नई दिल्ली-११००२१



भारतीय दर्शन एक अधिक समृद्ध तथा बहुमुखी धरोहर है जो वैदिक काल से लेकर आज तक निरंतर अटूट चली आ रही है। इसमें अनेक ग्रन्थ, अनेक दर्शन, अनेक विचार धारायें पैदा हुई हैं और हरेक के साथ अनेक संतों, महापुरुषों और महान स्त्रियों का संबंध रहा है। ऐसी ही एक परंपरा कश्मीर शैव शास्त्र कहलाती है जिसके सबसे प्रसिद्ध प्रवर्तक चौदहवीं शताब्दी के आचार्य अभिनव गुप्त रहे। वह परंपरा आज तक चली आ रही है और उसी परंपरा में थे स्वामी लक्ष्मण जी रैना जो लक्ष्मण जू के नाम से प्रसिद्ध थे। इनकी कुटिया कश्मीर के विख्यात निषात बाग के समीप गुप्त गंगा के शैव मंदिर से जुड़ी हुई थी और वहीं उन्होंने अर्द्धशताब्दी तक कश्मीर शैव दर्शन का प्रचार किया।

मुझे बचपन से ही उनका व्यक्तिगत आशीर्वाद प्राप्त हुआ। मेरे माता जी बड़े धार्मिक प्रवृत्ति की थी और वे समय-समय पर उनके दर्शन करने जाती थी। मैं और मेरी पत्नी भी अक्सर उनसे मिलते थे और कई बार उन्होंने हमारे निवास स्थान में भी दर्शन दिए। उनमें जो सरलता और विद्वता का संगम था वह वास्तव में अविस्मणीय था।

लक्ष्मण जू की कई कृतियां प्रकाशित हुई हैं लेकिन उनके विषय में संस्मरणों का अभाव रहा है। मुझे प्रसन्नता है कि कई व्यक्तियों ने जो उनसे जुड़े हुए थे बड़ी श्रद्धा के साथ अपने संस्मरण लिखे हैं और उसे 'श्रद्धार्चन' के रूप में प्रस्तुत किया है। मैं इस अवसर पर स्वामी लक्ष्मण जू को जहां अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ वहां भगवान शंकर से प्रार्थना करता हूँ कि कश्मीर शैव दर्शन कभी लोप न हो; और इसका प्रचार-प्रसार दिन-प्रतिदिन बढ़ता जाये।

कर्पूरगौरम करुणावतारम संसार सारं भुजगेन्द्रहारम।
सदा वसन्तम् हृदयार्विन्दे भवम् भवानी सहितम् नमामि।।

कर्ण सिंह

कर्ण सिंह

मंगलवार दिनांक २४. ३. ९८
नई दिल्ली – ११००२१

दूरभाष : (०११) ६११ १७४४, ६११ ५२६१ फैक्स : (६१–११) ६८७ ३१७१





दो शब्द

"गुरु मूरति छबि चंद्रमा,
सेवक नयन चकोर।
अष्ट प्रहर निरखत रहउ,
गुरु मूरति की ओर।।"

हजारों, लाखों प्रज्वलित दीपक भी इकट्ठे किए जायँ, तो भी प्रकाशमान सूर्य की समता नहीं कर सकते। परम पूज्य श्री सदगुरु, स्वयं प्रकाशमान सूर्य थे। मानो ईश्वर-स्वरूप, भगवान शंकर के रूप में कलिके अवतार ही हैं।

भगवान व उनके भक्तों की थाह कौन पा सकता है? भगवान-श्री ठाकुर जी की लीला अनन्त है, तो उनके भक्तों की भी लीला परम अनन्त है। एक प्रयास किया गया कि, परम पूज्य श्री स्वामी जी के सेवक जन, जो-जो उनके सम्पर्क में आए या उनके चरण शरण में रहकर जो-जो अनुभूतियाँ उन्हें हुईं अपने श्रद्धा के सुमन लिख भेजें। इनकी प्रेरणा का श्रेय परम पूज्य श्री बालकृष्णदास जी महाराज, वेणु विनोद कुँज, वृन्दावन को ही जाता है। वे बार-बार कहते थे कि-"पूज्य स्वामी जी पर एक ग्रन्थ प्रकाशन होना चाहिए।"

हम ये श्रद्धा के सुमन-"श्रद्धार्चन" के रूप में परम पूज्य श्री स्वामी जी के वैशाख कृष्ण पक्ष द्वादशी के शुभजन्म दिन पर (91st Brith day) उनके कर-कमलों में अर्पणकर यही याचना करते हैं।



"मन रे नित गुरु चरण रहिये।
मंगलमय सर्व सुख राशी,
सर्व-व्यापक घट-घट वासी,
मन रे नित गुरु चरणन रहिये।"

परम पूज्य श्री बालकृष्णदास जी, (२४ मई १९९५ में) नित लीला में प्रवेश कर गए। "रसार्चन" के प्रकाशन के बाद, श्री ठाकुर जी, घनश्याम जी शर्मा, वृन्दावन से लगातार प्रेरणा देते रहे। हमारी बुआ जी, "श्री कमला जी बावा के मन में लिखने का उत्साह हुआ। उनका उत्साह देखकर, परम पूज्य स्वामी जी की प्रमुख शिष्या "पूज्य श्री प्रभा जी" ने सभी शिष्यों से अपनी अनुभूतियाँ, श्रद्धाजंली एवं संस्मरण लिखकर भेजने को कहा। पूज्य श्री प्रभा जी का सहयोग तथा उनके परिश्रम का ही फल है-"श्रद्धार्चन" उन्होंने ही संपादक का भी कार्य सम्भाला, और ग्रन्थ को सवारा भी। पूज्य श्री प्रभा जी व घनश्याम जी शर्मा के आशीर्वाद से ही यह कार्य सम्पन्न हो सका है।

"श्री कमला जी-बावा"-पूज्य श्री स्वामी जी की प्रमुख शिष्यों में से हैं। छोटी उम्र से ही उनका पूज्य स्वामी जी के सम्पर्क में आना हुआ। उनकी सद्‌गुरु के प्रति समर्पण, सेवा, श्रद्धा से वह परिवार में एक मिसाल बन गईं। उन्हीं के निमित्त से परिवार पूज्य स्वामी जी के श्री चरणों में आश्रित हो गया। यही नहीं-ब्रज के उच्चकोटि के सन्तों से भी आशीर्वाद व प्यार उन्हीं के माध्यम से मिला। पूज्य श्री बालकृष्णदास जी महाराज कहा करते थे, "कमला जी आप सब की "Engine" हैं। उन्होंने ही हमें, समय-समय पर मार्ग दर्शन कराया। उनका आभार, उनका ऋण हम कभी नहीं चुका सकते हैं। बुआ जी तीसरी बार "अपोलो" में Admit हुईं। एक महीना I.C.U. में रहने के बाद, कमरे में shift हुईं। परिवार वालों ने सुझाव दिया कि बुआ जी को "final proof" दिखा दिया जाय।



10-2-98 शाम को उन्होंने proof को देखा। बोलीं कुछ नहीं, देखकर आँखें बन्द कर लीं। हम सबकी यही इच्छा थी कि वह अपने कर-कमलों से ही यह "श्रद्धार्चन", परम पूज्य श्री स्वामी जी को समर्पित करतीं किन्तु दुर्भाग्यवश ऐसा हुआ नहीं! 13-2-98 को ब्रह्म मुहूर्त में संसार को त्यागकर वे, अपने सद्‌गुरु के श्री चरणों में लीन हो गईं। किन्तु हमें यह पूर्ण विश्वास है कि उनका सद् आशीर्वाद हमारे सभी कार्यों को सफलता प्रदान करेगा। उन्हीं की सद-आन्तरिक अभिलाषा से ही यह "श्रद्धार्चन" सभी भक्तों के समीप उपस्थित है।

"श्रद्धार्चन" के कार्य में रुकावटें बहुत आईं। "बुआ जी" का स्वास्थ्य लगातार बिगड़ता ही चला गया उन्होंने "श्रद्धार्चन" के प्रकाशन का कार्य मुझे सौप दिया। पूज्य श्री प्रभा जी ने जो कि संपादक हैं, श्रीनगर चली गईं। कई कारणों वश कार्य की गति धीमी पड़ गई। यह सद्‌गुरु जी की कृपा थी जो कि हाथ बटाने के लिए डॉ० कल्ला आगे आये। अपने अनुभव, परिश्रम और लगन से उन्होंने प्रूफ संशोधन, "श्रद्धार्चन" की भाषा को शुद्ध और सुन्दर बनाने का भी कार्य किया। हम डॉ० बदरीनाथ कल्ला के विशेष रूप से आभारी है।

हमने डॉ० कर्ण सिंह जी से जाकर प्रार्थना की, कि वे "श्रद्धार्चन" का "Forward" लिखें। उन्होंने हमें बहुत उत्साहित किया। कहने लगे "मुझे जिस दिन फाइनल प्रूफ दिखला दोगे, तो २४ घण्टों में मै forward लिख दूँगा। हो सका तो पूज्य स्वामी जी के संग एक फोटो भी दूँगा" उन्हें "श्रद्धार्चन" की फोटुएँ पसंद आईं होंगी ! हम डॉ० कर्ण सिंह जी के बहुत आभारी हैं।

राधा प्रेस से सम्पर्क बहुत सालों से है। राधा प्रेस जाकर ऐसा लगता है, जैसे गीता प्रेस पहुँच गये हो। राधा प्रेस का वातावरण बहुत सात्विक है। जब भी वहाँ गया केवल हरि चर्चा ही हुई। "श्रद्धार्चन"



को रूप देने में राधा प्रेस का बहुत सहयोग मिला। हम विशेष रूप से श्री व्यासनन्दनशरण जी शर्मा-''चाचा जी'' श्री वंशीवल्लभ शर्मा जी एवं श्री सुधीर जी शर्मा और प्रेस के अन्य कर्मचारियों के हम आभारी है।

पूज्य श्री स्वामी जी के भक्तों को हमारा कोटि-कोटि प्रणाम है। हम उन सभी भक्तों के आभारी हैं जिन्होंने अपनी श्रद्धाजंली व अपने संस्मरण भेजे हैं। उन्होंने अपने श्रद्धा सुमन भेजकर ''श्रद्धार्चन'' में चार चाँद लगा दिये है। ''श्रद्धार्चन'' उन्हीं का है। भक्तों के लेख पढ़कर मन रस-सिक्त हो जाता है। तन रोमान्चित हो उठता है, नेत्र भर-भर आते हैं और प्रेमाश्रु ढलने लगते हैं और मन की गति खो जाती है।

प्रयास तो यही था कि कोई त्रुटि न रह जाय। कोई रह गई हो तो आप हमें क्षमा करेंगे ही।

अन्त में सद्गुरु देव श्री स्वामी जी से प्रार्थना है कि, अपनी कृपामयी दृष्टि द्वारा अपने भक्तों को कृतार्थ करते रहे। ''श्रद्धार्चन'' के माध्यम से वे स्वात्म-झलक सदैव हमारे हृदय और नेत्रों में प्रकाशित करते रहे। उनके चरण-जलजों में शत्-शत् प्रणाम।

जय गुरु देव

-असचरज लाल चड्ढा

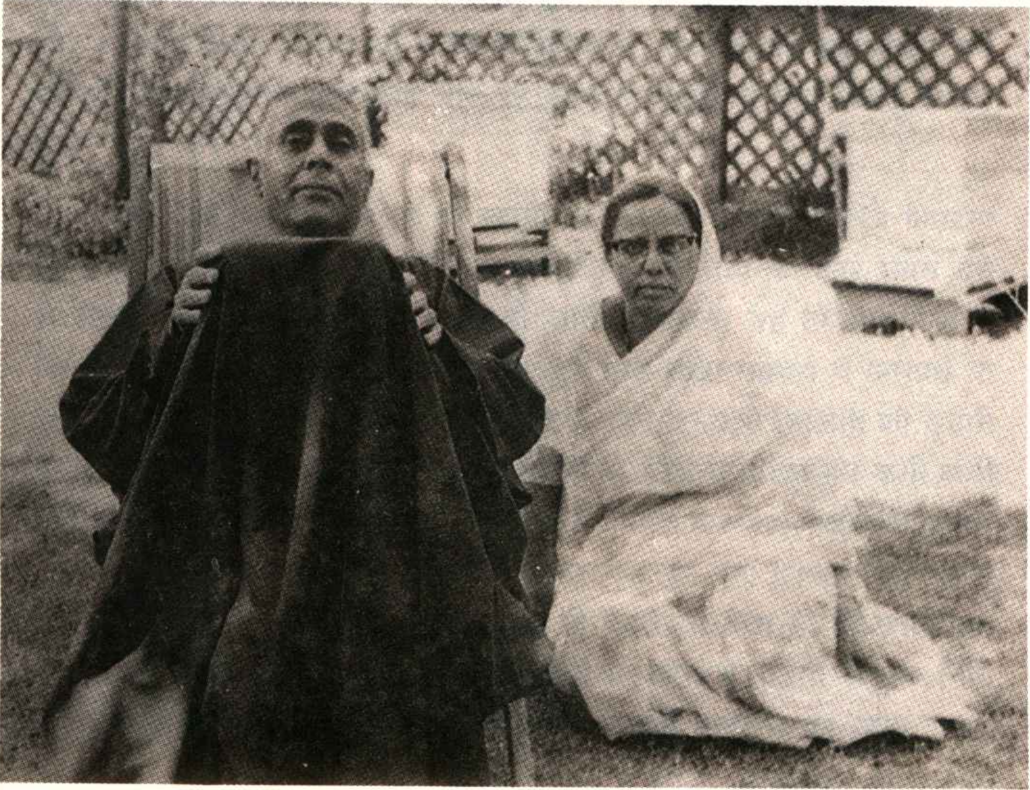




विषय-अनुक्रम

◆

श्रद्धार्चन





पावन संत श्री लक्ष्मण जू महाराज

कमला जी, वृन्दावन

[मैं, पावन संत पूज्य श्री लक्ष्मणजी महाराज के संस्मरण में अपने पूज्य गुरुदेव के दिव्य जन्म तथा दिव्य जीवन लीला चरित सुधा का वर्णन करने जा रही हूँ , उसमें असंख्य अपराध हो सकते हैं। इस धृष्टता को हे गुरुदेव! आप क्षमा करें। मैंने अपनी अल्पमति से जो कुछ भी गुरु देव के श्री मुख से सुना और अनुभव किया परमार्थ या शास्त्र के विषय में, उसे लिखने का प्रयास कर रही हूँ । इस लेख में यदि कोई त्रुटि रह जाये तो भक्तजन तथा विद्वत् समाज उसे क्षमा करें।]

मुझ जैसे व्यक्ति के लिये श्री स्वामी जी का दिव्य जीवन चरित्र लिखना बहुत ही कठिन कार्य है, उनके विराट अलौकिक व्यक्तित्व की ओर ध्यान देने से लेखनी रुक जाती है, बुद्धि स्तब्ध हो जाती है, किन्तु यह तो सर्व सिद्ध है कि वह हम लोगों के लिये ही आये थे। गुरु-मित्र-सखा-सहृदय व आचार्य के रूप में। सर्व प्रकार की मलिनता धोने के लिये अपने अभय से हम सब को उठाने के लिये ही वह आये थे, उनके स्नेह तथा प्रेम से मोहान्ध होकर हम कभी कभी प्रतिकूल आचरण भी कर लेते थे तो वह किंचित प्रेमवश-करुणापूर्ण क्षोभ से कहते, ''आज सिंह क्यों स्वेच्छा से भेड़ों में मिलकर भेड़ बन रहा है। तुम लोग कैसे समझोगे ?'' कभी कभी रोष में कुछ कह भी बैठते तो वैसा ही हो जाता था, वह केवल हमारा सुधार करने के लिये ही ऐसा करते थे। उसी अमूल्य निधि का स्मरण-मनन-विवेचन करने के अतिरिक्त उनको समझने का अन्य उपाय ही क्या हो सकता है। हम देखते थे कि कभी वह धर्मार्थ जिज्ञासुओं को आसन पर बैठकर आदेश तथा उपदेश दे रहे हैं। सहस्रों नर नारियों को मातृवत् वात्सल्य के साथ खिला पिला रहे हैं, सहस्रों को आशीर्वाद दे रहे हैं। प्रतिदिन उच्चतम आध्यात्मिक भाव के साथ-साथ तुच्छातितुच्छ साधारण काम काज तक भी तन्मयता से करते थे।



मितभाषी, मिताहारी, जितेन्द्रिय, आत्मसमाहित, शान्त, सौम्य, सर्वप्रियकारी, प्रियभाषी, कठोरतम शक्तिशाली इन महान् गुरू देव के अविचल संकल्प को देखकर अतिशय प्रवीण बुद्धि वाले को भी विचार करना पड़ता था, सुदृढ़ परन्तु तीव्र गति से आकांक्षित महाभाव लाभ के लिये अग्रसर होते हुए भी इन सभी भावों का लौकिक-अलौकिक का अपूर्व मिलन। उनमें विराम-विश्राम का नाम तक नहीं था, कहीं समाधिनिष्ठ बैठे हैं तो कहीं धर्म प्रचार कर रहे हैं, तो कहीं उपदेश दे रहे हैं, उसी समय मजदूरों से काम करा रहे हैं, पलभर में पाकशाला में जा कर प्रबन्ध कर रहे हैं। सहसा राजमिस्त्री के पास जाकर आदेश दे रहे हैं। देखते ही देखते धर्मार्थी जिज्ञासुओं को आसन पर बैठकर उपदेश दे रहे हैं। वह निष्कर्म-वाद(कर्म रहित हो जाने) को ही आध्यात्मिकता नहीं समझते थे। आलस्य-निद्रा-तन्द्रा-जड़ता को वह परम शत्रु मानते थे। निद्रा के विषय में कहते थे कि ३ घण्टे रात्रि को सोना पर्याप्त है, और आप सदा २ बजे रात्रि को जाग जाते थे और सुबह ६ बजे के लगभग स्नान आदि नित्य कर्म करते थे। भोजन के बारे में कहते थे-भोजन न करने से बहुत कम मनुष्य मरते हैं, ज्यादा व अहितकर भोजन करने से ही अधिकांश लोग रोग व मृत्यु के शिकार बनते हैं। जितने भी रोग हैं वह सब असंयम के ही फल स्वरूप हैं। कहीं पर अधिक भोजन, तो कहीं पर अभक्ष्य-भक्षण खाने से ही लोग रोगी हो जाते हैं। शाक और भात से ही यह शरीर स्वस्थ्य बनता है। जो लोग शाक भात ही खाते हैं क्या वह दूसरे लोगों से कम शक्तिशाली हैं ? उन्होंने बहुत लोगों को शाकाहारी बनाया। वह कहते थे कि मांस खाना पाप है।

परम पूज्य श्री स्वामी जी आध्यात्मिक जगत की एक महान विभूति थे। देश विदेश में फैले हुए उनके असंख्य भक्तगण उनका पावन स्मरण, चिन्तन, कीर्तन, भजन कर अपने लौकिक जीवन को सार्थक बना रहे हैं। उनके भक्तों की उनके प्रति असीम श्रद्धा अखण्ड अनुराग और अटूट आस्था है।



मुझे आशा है कि यह लेख भक्तजनों के हृदय को आह्लादित करने में समर्थ होगा। श्री स्वामी जी की जीवनी अनेकों भागों में विभक्त की जा सकती है।

श्री गुरुदेव के चरण-कमलों की धूलि परम पवित्र थी, जिसके स्पर्श मात्र से ही भक्तों का मंगल तथा उद्धार हो जाता था।

जब से श्री स्वामी जी का इस भूतल पर आविर्भाव हुआ, तब से उनके द्वारा आध्यात्मिक जगत में आध्यात्मिक महाभाव धारा प्रवाहित होती रही। उनके पिताजी का नाम नारायण जी और माता जी का नाम अरण्यमाली था।

अनेकों व्यक्तियों के साथ उनकी ऐसी ऐसी घटनाएँ घटित हुईं अथवा उन्हें उनके ऐसे ऐसे अनुभव प्राप्त हुए कि जो यहाँ देने कठिन हो गये हैं क्योंकि उन लोगों से अब सम्बन्ध स्थापित करना कठिन हो गया है, कि वैसे का वैसा ही लिखा जा सके। कोई इधर गया कोई उधर गया। समय के हेर फेर ने सबको विलग विलग कर दिया। फिर भी कई गुरु बहनों तथा गुरु भाइयों ने अपनी अपनी 'पुष्पाञ्जलि' भेजकर हमें प्रोत्साहित किया है। उन्हें हम हृदय से धन्यवाद दे रहे हैं। चारों ओर से विवाद-आपदा के आवर्त में आबद्ध लोगों की यही दशा हुई- जब तक श्री स्वामी जी कश्मीर में बैठे रहे, तब तक सब लोग भी वहाँ बैठे रहे। उन सबकी यह धारणा है, कि हम लोग उन्हीं के कारण सुरक्षित थे, यह सत्य भी है। हमारी कोठी भी जब तक वह वहाँ रहे सुरक्षित रही, उनके जाने के बाद एकदम अग्नि की लपटों में झुलस गई। जिस कोठी के बराण्डे में बैठकर वह जन्म दिवस पर हजारों लोगों को प्रसाद बाँटते थे।

उनका आविर्भाव दिवस ६.५.१९०७ था। उनके जन्म का वृत्तान्त जो उनकी बड़ी बहिन के मुख से मैंने सुना है, वह मैं लिख रही हूँ। एक प्रतिष्ठित और समृद्धिशाली–ब्राह्मण परिवार में उनका शुभ जन्म हुआ। श्री स्वामी जी के परम गुरु श्रीराम जी भी उनके घर में रहते थे। वह भी परम सिद्ध थे। वह उनके कुल पुरोहित भी थे। इस शिशु की जन्म वार्ता सुनाने के लिये श्री स्वामी जी



की बहिन श्री राम जी के पास गईं। जब उन्होंने अद्‌भुत शिशु का जन्म सुना तो सर्व श्रेष्ठ सतगुरु श्री राम जी, भगवान कृष्ण के जन्म के समय के पद उच्च स्वर से गायन करने लगे और आनन्द में विभोर होकर नृत्य करने लगे। श्री सद्‌गुरु राम जी की यह आश्चर्यमयी दशा को देखकर जो उस बहिन ने कभी नहीं देखी थी, श्री राम जी से कहने लगी कि ''हे गुरुदेव ! इस बालक का क्या नाम होगा? कृपा करके बतलाइये।'' तब श्री राम जी ने उत्तर में कहा ''इस नवजात शिशु का नाम मैं भला क्या रखूँगा ? विधाता ने तो इसका नाम पहले ही रखा हुआ है। जब मैं राम हूँ , तो यह पुनः लक्ष्मण ही जन्मे हैं।'' इस सत्य वाणी द्वारा सतगुरु श्री राम जी ने उस संवाद देने वाली बहिन से कहा कि यह तो भगवान् शंकर ही जगत कल्याणार्थ प्रकट हुए हैं। इस बात को श्री रामजी ने बालक के आविर्भाव के समय ही जान लिया था। शेष, जनता तो बाद में इस से परिचित हुई। शिशु में ऐसा आकर्षण था, कि जो कोई उसे एक बार देख लेता, उसीके अन्तः करण में शिशु को अंक में लेकर आनन्द पाने की उत्सुकता हो जाती थी। इनके पुण्य-आविर्भाव से नारायण जी के जीवन का एक नवीन अध्याय आरम्भ हुआ। विपदजाल छिन्न-भिन्न हो गया, और वह मेघरहित वसन्तकाल की भाँति प्रकाशित हुए। परिवार में सुख-समृद्धि की वृद्धि होने लगी। ऐसे आकस्मिक अभ्युदय से इस दिव्य शिशु के प्रति माता-पिता, स्वजन, स्नेही सब का स्नेह व आकर्षण स्वभाविक रूप से बढ़ता गया। उनकी आकृति, हावभाव आलाप व्यवहार वास्तव में मानव हृदय को स्वतः ही आकर्षण करने वाले थे। उनके निकट जाने से ही, सबको आनन्द का अनुभव होता था, कुंचित केश राशि के मध्य में सुन्दर शिखा अति शोभायमान होती थी मृदु हास्य युक्त भाव, गम्भीर सुन्दर मुख मण्डल, अर्धविकसित नेत्र।

शिशु के प्रति सबका ऐसा ही अहेतुक आकर्षण था कि इसके विषय में चारों ओर लोगों में एक नवीन चर्चा चलने लगी। अवसर मिलते ही लोग एकत्र होकर उनके दर्शन के लिये जाते।



क्रमशः बालक के जीवन में दिव्य गुणों का विकास प्रकाशित होने लगा। उन सबका मूल बीज शैशव में ही विद्यमान था। शैशव से ही वे शान्त-स्थिर व चंचलता रहित थे। सभी विषयों में उनका अनासक्त भाव था। मर्यादा का वह कभी भी उल्लंघन नहीं करते थे तथा उदासीन व आत्म-भाव में लीन रहते थे। किसी भी संसारी विषयों की ओर उनका मनोयोग नहीं था, अतः कोई भी व्यक्ति उन्हें देखकर यह समझ सकता था, कि यह बालक शरीर धारण करते हुए भी पूर्ण विदेह स्वरूप में हैं।

"देहस्थोऽपि न देहस्थः" संस्कारवश शरीर का धर्म चल रहा है। अन्तर में फल्गु-धारा की भाँति एक अपूर्व महाभाव का अनन्त स्रोत सतत प्रवाहित हो रहा है। उनके प्राण तथा मन मानो शरीर से अतीत किसी अतीत-भाव जगत में प्रवेश कर रहे हैं। अद्वितीय महामणि के अनुसंधान में, आनंदामृत का अस्वादन कर रहे हैं। ऐसा उनके दर्शन से आभासित होता था। जब वह अभी बालक अवस्था में ही थे तो कहते हैं कि वह स्वतः ही समाधिस्थ हो जाते थे अथवा यों कहें कि हमारे गुरुदेव योगीराज बाल्यकाल में ही समाधि में चले जाते थे और घन्टों उसीमें ही रहते थे। कई इस रहस्य को न जानने के कारण इसे मिरगी रोग कहते। तब इनके माता-पिता तथा परिवार के लोग बहुत अधीर होकर चिकित्सक को बुलाने के लिये व्यग्र हो उठे। बहुत चिन्तित होने पर उन्हें इनके परम गुरु श्री रामजी के पास ले गये। सब बताया तो उन्होंने कहा यह मिरगी नहीं है, यह तो पूर्व जन्म के महान योगी हैं अपना पथ ढूँढ रहे हैं, इसमें कोई उपचार करने की आवश्यकता नहीं हैं। भगवान् सबको यह दशा देवें। तब से माता-पिता निश्चिन्त हुए, इस बात को सुनकर सभी लोग आश्चर्य- चकित होते थे। परन्तु बाद में वह लोग उस प्रभाव को प्रत्यक्ष रूप से देखकर अति हर्षित होते थे। पिता के अन्तःकरण में पुत्र के प्रति और भी अधिक श्रद्धा जाग्रत हुई।

समाधि के रस में डूबे हुए इस शिशु को यद्यपि माता-पिता ने सांसारिक भोगो में लगाने के लिये भरसक प्रयत्न किया किन्तु ऐसा करने में असफल रहे।



गुरु तुल्य माता-पिता इस बालक के स्वयम् भी शिष्य बन गये।

इन दैवी गुणों से सम्पन्न बालक, सभी संस्कारों के साथ क्रमशः विकसित होने लगा। अनासक्ति और उदासीनता का भाव उत्तरोत्तर बढ़ने लगा। उनके आलाप-व्यवहार एवं समग्र दिनचर्या में भी एक अपूर्व संयम की दृढ़ता थी, वे अपने आत्मस्वातन्त्र्य पर प्रतिष्ठित रहते, तथा आत्मभाव में समाहित थे। बालक में गाम्भीर्य था परन्तु कठोरता लेशमात्र की भी नहीं थी। इन में गाम्भीर्य एवं माधुर्य का अपूर्व समन्वय था। स्कूल में भी यह कुछ समय के लिये जाते रहे, वहाँ भी समवयस्क बालकों के साथ खेल-कूद में वह अधिक भाग नहीं लेते थे। वह अपने साथ एक आसन सदा ही ले कर जाते थे और सदैव उसी पर बैठते थे। सब के लिये तो साधारण चटाइयाँ बिछी होती थीं। जब कभी पी॰ टी॰ की कक्षा होती थी, तो यह आसन पर बैठे बैठे समाधिस्थ हो जाते थे। एक बार इनके शिक्षक ने इनको पीटा कि यह बहाना करके बैठ जाते हैं। उस के बाद यह कभी भी पाठशाला नहीं गये और वह शिक्षक बहुत समय तक बीमार पड़ा रहा और स्वस्थ होने पर बालक के पास क्षमा प्रार्थना करने के लिये गया और इसके उपरान्त इनका शिष्यत्व ग्रहण कर लिया। वह सदा ही इनके दर्शनार्थ आते रहते थे। यह उसे बहुत ही आदर और मान देते थे किन्तु वह मन ही मन संकुचित से हो जाते थे। मैंने कई बार यह दृश्य अपने नेत्रों से देखा। हमारे गुरुदेव के परमगुरु स्वामी महाताब काक जी थे और परमेष्ठि गुरु श्री स्वामी राम जी थे। एक बार यह श्री रमण भगवान के दर्शनार्थ भी गये उनके द्वारा यह बहुत ही प्रभावित हुए, आगे जाकर इस विषय पर और प्रकाश डालेंगे।

जब यह अपने गुरुदेव के पास दीक्षा के लिये गये और आग्रह करने लगे तो उन्होंने इन से कहा कि "तुम्हारी साधना तो पूर्ण हो चुकी अब दीक्षा का क्या प्रयोजन"। तत्पश्चात् अपनी योगदृष्टि से श्री गुरुदेव के भगवत् निर्दिष्ट भविष्य कर्मलीला को प्रत्यक्ष कर परम स्नेहपूर्वक दीक्षा प्रदान की।



इस प्रकार गुरु परम्परा से प्राप्त तथ्यों को तथा अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों के आधार पर शैव दर्शनों को समझा तथा जन साधारण में उसका प्रचार किया। शनैः शनैः इनकी चेतना, अतीन्द्रिय भूमिका में रहने लगी, यन्त्र की भाँति शरीर अपना धर्म करता जाता था, परन्तु अधिकांश समय वे भावमग्न रहते थे। कभी कभी वह अपने पिताजी का कार्य सँभालते थे। इनके कारखाने में **(Houseboat)** नाव अथवा बैडियाँ बनती थीं, तरखान (बढ़ई) काम कर रहे होते थे, उनका निरीक्षण करने के लिये पिता जी इन्हें कहते थे, तो यह निरीक्षण करने के लिये कुर्सी पर बैठ जाते थे। इनका इस कार्य का निरीक्षण भी निराला ही होता था। मानो निरीक्षण कर रहे हैं, परन्तु उनकी चेतना अनन्त असीम में विलीन हो गई होती थी। बाह्य ज्ञान सम्पूर्ण तथा विलुप्त सा हो गया होता या इसी प्रकार काफी समय तक बैठे रहते, बुलाने पर बाह्य चेतना आती। क्रमशः इसी अवस्था की वृद्धि होने लगी तथा बाह्य सम्बन्ध छूटने लगा। यहाँ तक कि शरीर रक्षा के व्यवहार में भी उदासीन रहने लगे।

जब उन्होंने किशोर अवस्था में ही पदार्पण किया था, तब तीव्र वैराग्य के कारण, घर त्याग कर, तपस्या करने के लिये (साधु-गंगा-नामक) स्थान को चले गये। कुछ पैसे उन्होंने, जो इस यात्रा के लिये इकट्ठे किये हुए थे, एक बस वाले को दे दिये और कहा कि मुझे अमुक स्थान में छोड़ दो। वे यह सदा कहते थे कि आध्यत्मिक उन्नति के लिये सर्वस्व त्याग की परम आवश्यकता है। उनके श्री मुख से मैनें सुना है कि ''जैसे ही बस चली मैं एक दम निर्विकल्प समाधि ा दशा में चला गया क्योंकि उस समय मैनें सर्वस्व का त्याग किया था।'' उस तीर्थ स्थान पर पहुँच कर वह अपनी तपस्या में संलग्न हो गये। दिन रात एक पेड़ के नीचे आसन जमा कर बैठे रहते। उनके पास और किसी बात के लिये अवकाश ही नहीं था। बहुत ही अल्प आहार लेते। वहां पर एक आश्रम था और उसमें एक सन्त रहते थे। वहां 8-10 मूर्तियों (साधुओं) के भोजन की व्यवस्था



सदा ही रहती थी। वह सन्त इनका बहुत ही ख्याल रखते और किसी के द्वारा बुलाकर भोजन के लिये अनुरोध करते, तथा कुछ खिला पिला देते। उधर घर में यह सदा प्रभात के समय घूमने निकलते थे। एक दिन जब यह बहुत समय तक वापस नहीं लौटे तो सब लोग इनको ढूँढ़ने निकले। किसी से भी कुछ समाचार न पाकर, इनकी माता शोक से व्याकुल हो गई। कुछ दिन उपरान्त पता चल गया कि यह साधु-गंगा नामक-पुण्य तीर्थ में तपस्या कर रहे हैं। इधर यह किसी प्रकार भी घर आना नहीं चाहते थे, किन्तु इनकी माता ने फिर इनके श्री गुरुवर स्वामी महताब काक जी से अनुरोध किया कि यह उन्हें तीर्थ से लौटा लायें। इन्होंने गुरू आज्ञा को शिरोधार्य किया और पुनः घर वापस आ गये। इनके रहने के लिये इनके पिताजी ने शीघ्रता से घर के अहाते में, जो कि बहुत विशाल था, एकान्त में एक छोटासा घर बनवा दिया, और यह उसी घर में रहने लगे।

इस प्रकार तपोनिष्ठ गुरुदेव इसी घर में रहकर, शैव-शास्त्रों का अध्ययन करने लगे। श्री स्वामी जी के शास्त्रगुरु श्री महेश्वर राज़दान जी थे। उन्होंने सत्पात्र और योग्य शिष्य के मिलने पर उन्हें सम्पूर्ण विद्या का उपदेश दिया। उन्होंने सम्पूर्ण व्याकरण आदि भी उन्हीं से ही पढ़ा। अतः अद्वितीय प्रकाण्ड विद्वान बन गये। हमारे गुरुदेव समस्त शास्त्रों के अध्ययन से ऐसे शोभायमान हुए जैसे आकाश में सूर्य उदित होता है। इन सब शास्त्रों का अध्ययन उन्होंने अल्पकाल में ही कर लिया।

श्री गुरुदेव का शरीर हृष्ट-पुष्ट था तथा आयु के अनुपात से शरीर की वृद्धि अधिक थी। उनके शरीर की विशालता, स्वभाव की मृदुलता, चरित्र की पवित्रता, आचार-व्यवहार की मधुरता, वार्तालाप की शालीनता, बुद्धि की निर्मलता, मानसिक स्थिरता व अविचल गम्भीरता से स्वतः ही यह ब्रह्मचारी लक्ष्मण जू के नाम से विख्यात हो गये। यह सिद्धान्त वहां प्रत्यक्ष रूप से दीखने लगा कि संयम साधना और वीर्य धारण ही शारीरिक-मानसिक तथा आध्यात्मिक



माता अरण्यमालीजी पिता श्रीनारायणदासजी रैणा



श्री ईश्वर-स्वरुपजी महाराज के परमेष्ठि गुरु श्री रामजी महाराज

श्री गुरुवर्य के परम गुरु श्री महताबकाक जी महाराज ।



गुरुदेव योगीराज



सर्व प्रकार की शक्ति प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है। परिमित रूप से लघुपाच्य और सात्विक भोजन ही नियमित, व मानसिक परिश्रम ही स्वास्थ्य-आयु और आरोग्य का राजमार्ग है।

संकल्प की रक्षा ही सत्य की साधना है, यह महाराजजी का सिद्धान्त था। संकल्प में जो दृढ़ है प्रतिज्ञा में जो अविचल है, सर्व प्रकार की सिद्धि उसके करतल गत है। यही साधना का बीज मन्त्र है, यह उत्साहमयी वाणी उनके श्री मुख से सदा सुनाई पड़ती थी। यह नियमित रूप से समयानुसार सब काम करते थे। वह एक मास तथा कभी दो मास के लिये भी मौनव्रत धारण करते थे। कभी उससे अधिक समय के लिये भी मौन-व्रत धारण करते थे। पीछे-पीछे प्रति सोमवार को वह मौन व्रत धारण करते थे। उस में वह किसी से मिलते नहीं थे, एकान्तवास ही करते थे, और अपनी साधना में लगे रहते थे। खाना भी अपने हाथ से ही बनाते थे। खाने का सब सामान भी पहले से ही अन्दर रख लेते थे। एक बार नहीं अनेकों बार उन्होंने यह मौन व्रत धारण किया। मृत्यु-चिन्ता और वैराग्य साधना ही इन की परम प्रिय वस्तु थी।

वह सदा कहते थे-''धर्म नहीं है, माला में झोली में, न धर्म है तिलक-त्रिपुण्ड में, वेशभूषा में धर्म नहीं है, स्वयम् भी किसी प्रकार का कोई चिह्न नहीं धारण करते थे। मन्दिर या मस्जिद में धर्म नहीं है, केवल कुरान-पुराण में धर्म नहीं है धर्म है साधना में, आचरण में, अनुष्ठान में, अनुभूति में, त्याग-संयम-सत्य में।

एक बार वह होली के अवसर पर बरसाना गये हुए थे। असंख्य लोग श्रीजी (श्री राधारानी जी) के आंगन में बैठे हुए थे। खूब रंग जमा हुआ था, अबीर गुलाल उड़ रहा था और पद गान हो रहा था। एक साधारण कमीज़ और पायजामा धारण करके, सादे वेश में किन्तु तेजस्वी व्यक्ति, जनता के बीच में बैठे हुए थे। उनके संग में भी कोई नहीं था। ठाकुर घनश्याम जी वृन्दावन वालों ने उन्हें, जिन्होनें पहले कभी भी नहीं देखा था उनके तेजोमय मुख मण्डल को देख कर



उन्होंने उन्हें प्रणाम किया। श्री ठाकुरजी बोले ''क्या आप कमलाजी के गुरुदेव हैं ?'' पूज्य श्री स्वामी जी कुछ चकित होकर बोले ''आप मुझे कैसे जानते हैं ?'' उन्होंने कहा कि ''यहाँ एक ही विलक्षण मूर्ति थी, जिसे देखकर मैंने जान लिया।''

हमारे गुरुदेव कुछ समय बाद जब श्री महेश्वर राजदान जी से सब शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त कर चुके और कुछ समय के उपरान्त ईश्वर-पर्वत (प्राचीन-ईश्वर-वर्तमान-ईश्बर) पर चले गये, वहां उन्होंने पर्वतीय-स्थान में जो जल फूलों तथा फलों से युक्त था, एक सुन्दर आश्रम बनवाया। वहां भी वह अपनी साधना में जुटे रहे और शास्त्रों का अध्ययन करते रहे और कुछ पुस्तकों का अनुवाद भी किया।

इनके माता पिता भी वहां ही रहने के लिये चले आये, वह नीचे की मंजिल में रहते थे और गुरुदेव ऊपर की मंजिल में रहते थे। सुबह सुबह दो बजे उठकर व्याघ्रचर्मासन पर बैठकर समाधि में लीन हो जाते थे। उसके उपरान्त नित्य कर्म से निवृत होकर शेष सारा दिन किसी न किसी कार्य में व्यस्त रहते। भोजन के उपरान्त आधा घन्टा केवल विश्राम करते, वह भी उतने समय अन्तमुर्ख अवस्था में लीन हो जाते थे। यही उनका मध्यम काल का विश्राम होता था।

श्री गुरुदेव का कथन था कि जो दशा तुम्हें समाधि में जाने पर प्राप्त होती है, उसकी अनुभूति तुम्हें सर्वकाल रहनी चाहिये। यदि ऐसा नहीं है, तो जान लो कि वह वास्तविक दशा नहीं है। आवेश की प्राप्ति होना अनिवार्य है। यह केवल, प्रेम-भक्ति के द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। हठ योग के द्वारा प्राप्त समाधि ा को वह कुछ कम ही श्रेय देते थे। यहाँ आकर भी उन्होंने अनेकों बार मौनव्रत धारण किया। यह मौन वह अक्सर शरद ऋतु में ही करते थे। उन दिनों वह सुबह ५ बजे के लगभग हिमाच्छादित पर्वत श्रेणियों में घूमने निकलते थे। मुख भी दुसे (एक प्रकार की ऊनी चादर) के साथ ढक लेते थे और एक पगडण्डी जो हारवन की ओर जाती थी, चले जाते थे। एक बार एक मुसलमान चौकीदार



ने उन्हें देखा कि जब वह जा रहे थे, तो एक शेर सामने चट्टान पर बैठा हुआ था। वह उनके बिल्कुल निकट में था। वहां से वह वापस आश्रम आ गये किन्तु शेर ने उन्हें कुछ भी नहीं कहा, यह बात तो उन्होंने स्वयम् किसी से भी कभी नहीं बताई। जब वह वार्त्ता किसी ने पूछी तो वह शरमा गये और कहने लगे कि हां उस दिन तो मैं कैसे बच गया, मैं कैसे भयभीत हुआ और वापस आश्रम चला आया ?

यह मौनव्रत जबकि चावलों की फसल कट जाती थी और हिमपात शुरू होने वाला होता था तब ही वह करते थे। उनके पास उनके पिताजी द्वारा दी गई थोड़ी भूमि थी। उस पर ही चावलों की फसल ऊगाते थे जो उनकी साल भर की खपत के लिये पर्याप्त होती थी। आसपास के लोग भी यही देखते रहते थे कि इनकी फसल कट गई है, अब हिमपात होगा, क्योंकि जब तक यह फसल संभाल नहीं लेते थे हिमपात शुरू नहीं होता था। ऐसा कभी नहीं हुआ कि उन्होंने चावल की फसल संभाली ना हो और हिमपात हो गया हो (ऐसा दीखाता था कि, उन्हें वायुमण्डल पर नियन्त्रण है)। आप पूरे परिश्रम के साथ यह काम संपन्न करते थे। साग-सब्जी भी वह अपने अहाते में ही उगाते थे और कुछ फलों के पेड़ आश्रम के प्रयोग के लिये रख लेते थे। कई पेड़ों के फलों को ठेकेदार को बेचते थे। जो लोग उनके दर्शनार्थ जाते थे उन्हें खिलाते पिलाते भी थे। उन का जन्मदिवस यहाँ होता था, कतिपय लोग ही यहाँ पर आते थे। जिस में काफी सम्बन्धी भी होते थे। एक दो गायें भी सदैव रखते थे। बड़े प्रेम से उन्हें पालते थे। शहद के छत्ते भी रखते थे और उससे शहद भी निकालते थे। एक बार जानकीनाथ जी, जो उनके एक शिष्य थे और गुरुदेव के प्रति जिन्हें अपार श्रद्धा थी, उन्होंने मुझे सुनाया कि एक दिन मध्याह्नकाल के भोजन के उपरान्त वह घूमने निकले और हारवन की ओर गये। जानकीनाथ भी साथ में ही थे। वहां एक छोटी सी नहर जो हारवन से चलकर निशात की ओर जाती थी, उसीके

सहारे चलते गये और चलकर एक बहुत बड़ा लकड़ी का लट्ठा उसमें पड़ा था, और उसे नहर में बहाकर आश्रम की ओर लाने लगे। नहर क्योंकि चौड़ी भी कम थीं और उसमें झाड़ियाँ भी बहुत थी, बहुत ही धीरे धीरे वह लट्ठा आ रहा था। इतने में अंधेरा होने लगा श्री स्वामी जी कहने लगे कि, ''तुम धीरे-धीरे लट्ठे को लाओ और मैं आश्रम में जाकर गैस लैम्प ले कर आता हूँ।'' आश्रम यहां से थोड़ी दूर था। इतने में श्री स्वामी जी को अभी पाँच मिनट भी गये हुए नहीं हुए थे, कि मैंने देखा कि श्री स्वामी जी गैस लैम्प ले कर आ रहे हैं। मैं अचम्भे में पड़ गया कि इतने समय में यह सब कुछ कैसे हो सकता है। मैं डर गया और आश्रम की ओर भागा, जब मैं आश्रम के समीप पहुँचा तो देखा कि श्री स्वामी जी आश्रम के बाहर वाले दरवाज़े के पास सीढ़ियां चढ़ रहे हैं। मुझे भागते हुए आते देखकर बोले क्यों क्या डर गया है। मैंने सारा वृत्तान्त सुनाया तो कहने लगे कि, ''डरने की क्या बात है, यहाँ पर एक सिद्ध रहता है, वही होगा'' और फिर वापस उस लट्ठा को लेने के लिये चल पड़े, कहने लगे कि, ''भण्डारा होने वाला है, उस के काम यह लकड़ी आयेगी।'' जानकीनाथ जी को यह पूर्ण विश्वास था कि दोनों जगह पर वह स्वयम् ही थे। इतना होने पर भी वह किसी के आगे इसको प्रकट नहीं करते थे और हमें सदैव कहते थे कि असल में गुप्त धन परमार्थ ही है। इसको जितना गुप्त रखोगे उतना ही लाभ होगा। यही सबसे संभालने वाली वस्तु है और सब कुछ तो यहाँ ही छूट जाना है। यह योगैश्वर्य संपन्न महापुरुष थे, किन्तु देखने में सरल और बालवत् स्वभाव था।

यह आश्रम बड़ा ही मनोरम था। वातावरण शान्त तथा गम्भीर था। असंख्य-वृक्ष-लता-गुल्मों से मण्डित इसकी शोभा थी। एक ओर गौशाला बनी थी। मैंने भी इसी आश्रम में श्री गुरुदेव से दीक्षा प्राप्त की थी। जब उन्होंने मुझे दीक्षा दी तो उन्होंने कहा कि यह पूर्व जन्म का संबन्ध है, तुम आश्रम के बाहर रहो या अन्दर रहो आश्रम में ही रहना है, जब कुछ वर्ष बीतने पर मैंने उनसे पूछा



कि आप तो कहते थे कि तुमको आश्रम में रहना है। तो कहने लगे कि समय आने पर ही सब कुछ होता है। श्री गुरुदेव ने अपने माता पिता की बहुत सेवा की। वह अपने हाथों से उन दोनों की सेवा किया करते थे। कभी-कभी उनके परिवार के लोग भी वहाँ आ जाते थे और वहाँ रहते थे, कुछ-कुछ शिष्य जन भी वहाँ आकर रहते थे। मैं प्रतिदिन आश्रम में जाती थी, कई बार तो दो बार भी जाती थी। यह आश्रम मेरे घर से २ कि॰ मी॰ था। यहाँ तो चढ़ाई चढ़कर जाना पड़ता था।

एक बार गुरुदेव मौनव्रत में बैठने वाले थे और मुझे भी देहली आना था। सारा दिन मुझसे कुछ ना कुछ काम करवाते रहे। सबको समय देकर कुछ ना कुछ अभ्यास आदि के बारे में बताया, किन्तु मुझे भविष्य में कुछ भी अपने कार्यक्रम अथवा ध्यान के लिये आदेश नहीं दिया और परमार्थ के बारे में पूछने के लिये समय नहीं दिया। मैं बहुत दुःखी हुई और श्री शारिका देवी जी से कहा कि मैं अब कभी भी इस आश्रम में नहीं आऊँगी। शारिका देवी जी ने कहा कि रुको मैं पूछती हूँ। तो श्री स्वामी जी ने कहा कि सुबह 6 बजे आना। उसी दिन से मौनव्रत शुरू था। मैं सुबह ६ बजे गई तो अपने आसन पर अपने कमरे में बैठे थे। मैं जैसे ही अन्दर गई तो मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि जैसे साक्षात् शंकर भगवान बैठे हैं। मैं सामने प्रणाम करके बैठ गई और मेरे नेत्रों से अश्रुधारा बहने लगी। कोई आधा घन्टा मैं बैठी रही। मन बहुत अन्तर्मुख हो गया। ऐसा प्रतीत होने लगा कि श्री गुरुदेव की महान कृपा से सराबोर हो रही हूँ। बाह्य ज्ञान विलुप्त हो गया। आधे घन्टे के बाद उन्होंने मुझे पुकारा, ''उठो'' अथवा यूं कहिये कि आगे के लिये मुझे क्या करना है इसका उन्होंने मौन रूप में ही संकेत दिया। मैंने दो मास देहली में व्यतीत किये और उस संकेत पर ही चलती रही। कुछ अन्तर्मुखता भी हुई और शरीर अस्वस्थ हो गया। श्री गुरु महाराजजी को पता चला तो मुझे कश्मीर आने के लिये संदेशा भेजा। मेरी टांगों में कुछ ऐसा हो गया कि चलना कठिन हो गया। मुझे कुर्सी पर बिठा कर आश्रम ले गये। मैंने



गुरुदेव से कहा कि अब मैं आश्रम पर नहीं आ सकूँगी। वे कहने लगे कि तुम नही आ सकोगी तो हम आया करेंगे। अतः इस कथन का उन्होंने सत्य कर दिया। कुछ ही दिन उपरान्त वह हमारे कोठी पर रोज आते थे और आचार्यवर उत्पलदेव द्वारा लिखित ''शिव स्तोत्रावली'' का हिन्दी में अनुवाद करने लगे। एक दिन कुछ कहने लगे कि वह जो सामने की जगह है हमें दिखला दो। मैं वहाँ ले गई तो कहने लगे कि हम यहाँ पर ही अपना स्थान बनवाना चाहते हैं, और उस स्थान पर ही स्थानान्तर करके आश्रम बनवा लिया। कुछ वर्ष पूर्व मेरे पूज्य पिताजी श्री ताराचन्द जी ने उन्हें इसी स्थान के लिये संकेत किया था कि आपको अब बुढ़ापा भी आ रहा है, वह स्थान बहुत पहाड़ी पर चढ़कर है और मोटर आदि भी वहाँ पर नहीं जा सकती, डाक्टर आदि की भी सुविधा नहीं हैं। हमने आपके लिये यह जगह रख ली है। श्री गुरुदेव सन् १९६० में इस आश्रम में आ गये और पूर्ण गुरु रूप में प्रतिष्ठित हुए।

इस समय से असाधारण घटनाओं के माध्यम से ही गुरुदेव का अलौकिक महत्व प्रकाशित होने लगा। वे सर्वज्ञ अन्तर्यामी तथा अलौकिक शक्ति सम्पन्न हैं। इस विषय में एकाधिक प्रमाण व अनुभव प्राप्त होने लगे। कई बार मुझे उनके विशाल ललाट पर चन्द्र कला के दर्शन हुए। शुभ जन्मदिवस पर जगद्गुरु आचार्य रूप में आत्म प्रकाश कर भक्तों की पूजा का अर्घ्यग्रहण करने लगे। इससे पूर्व तक उनके प्रति बाह्यतः गुरु शिष्य-सम्बन्ध इस प्रकार विशाल रूप से दृष्टिगोचर नहीं होता था, अन्तर में उनके प्रति श्रद्धा भक्ति विश्वास रहने पर भी बाह्य आचरण में ऐसा किसी प्रकार की क्रिया द्वारा वह सूचित नहीं होता था। श्रद्धा का जागरण परम आवश्यक है, इसलिये गुरु पूजा का अनुष्ठान व्यापक रूप से प्रचलित हो गया। आज गुरुजनों के प्रति श्रद्धा नहीं है। शास्त्र या महापुरुषों के साथ विश्वास या मर्यादा का बोध नहीं है। सर्वत्र घोर उच्छृँखलता व अनाचार है। वह आदर्श-गुरु-शिष्य सम्बन्ध को प्रतिष्ठित करना चाहते थे। उनका कहना था कि जो जिस



मात्रा में, श्रद्धा भक्ति-निष्ठा के साथ गुरू मुखी होकर रहेगा, मेरी तपःशक्ति व तप का प्रभाव उसी मात्रा में उसमें संचारित होगा।

जन्मदिन पर श्री गुरुदेव प्रभात वेला में ही उठकर समाधिस्थ हो जाते थे और लगभग तीन घन्टे सब के सामने खुले में ही समाधिस्थ रहते थे। सब भक्तजन उनकी पूजा करते थे और स्तोत्र पाठ करते थे। फूलों से खूब पूजा होती थी। एक बार श्री महाराज जी (श्री बालकृष्णदास जी) आश्रम में आये हुए थे। उनके जन्मदिवस के उपलक्ष में तो वे कहने लगे कि, ''यह दृश्य हम ने कभी भी, भारत वर्ष में, पहले नहीं देखा।'' उसके उपरान्त उनका साधारण चलना फिरना आदि सब कार्य विचित्र होते थे।

वह अविरामकर्म करते हुए भी स्थितप्रज्ञ ही रहते थे। उस समाधि की दशा में बैठे हुए वह, ऐसे प्रतीत होते थे कि मानो, मूर्तिमान आशुतोष शिव ही जीव जगत को शान्ति व मुक्तिदान के लिये विराजमान हैं। जनता तो नदी प्रवाह की भाँति अविराम गति से आती थी तथा आसन के सम्मुख आकर उस धीर-स्थिर-प्रशान्त विराट मूर्ति की ओर अपलक दृगों से देखती ही रह जाती थी। स्नेह-वात्सल्य की स्निग्ध कोमलता से एक दिव्य सुषमा मुखमण्डल को ज्योतिर्मय बना रही होती थी। श्री गुरुदेव को व्युत्थान काल में भी समाधि रस का संस्कार बना रहता था। इसी को नित्योदित समाधि की अवस्था कहते हैं। कबीर ने भी इसके बारे में कहा है कि "साधो सहज समाधि भली।" भक्ति का आवेश आने पर ही यह दशा प्राप्त होती है। इस भक्ति का नाम ही समरस भक्ति है। श्रद्धा, निष्ठा, अवधान, अनुभव और आनन्द के बाद यह समरस भाव उदित होता है। जीव तब जीव रह कर भी शिव के समान होता है। शिव-सूत्रों में भी कहा है ''शिव-तुल्यो जायते''। यही महायोग या सामरस्य है। जीव शिव में लीन नहीं होता। भक्ति भी शक्ति में लीन नहीं होती सभी रहते हैं। जीव शिव होता है, फिर भी वह जीव ही है। भक्ति-शक्ति हो गई फिर भी वह भक्ति ही है। इसीका नाम सामरस्य है। इस अवस्था में बन्धन नहीं रहता, मुक्ति भी नहीं रहती है। एकमात्र सामरस्य रूपा भक्ति-स्वयं प्रकाश अद्वय रस तत्त्व। यह एक सत्ता का

प्रकाश है, इसलिये यह ज्ञान है पर इसमें पृथक्भाव का आस्वादन रहता है इसलिये यह भक्ति रस है। यह अद्वय भक्ति अवस्था है।

यह सामरस्य ही नित्योदित समाधि है। समाधि प्राप्त होने पर भी पहले सामरस्य नहीं आता पर एक बार समरसता प्राप्त होने पर व्युत्थान दशा में भी समाधि रस का संस्कार बना रहता है।

जन्मदिन पर हजारों लोग आते थे और सारा दिन भंडारा होता था और लोग भोजन करते थे। जाते समय लोगों को मिश्री-मेवा-फल-मिठाई-बदाम-किशमिश आदि का प्रसाद मिलता था। आप अपने ही हाथों से प्रसाद बांटते थे। लोग कतारों में प्रसाद लेते थे। भजन कीर्तन की मण्डलियाँ भी आकर भजन करती थीं। सप्ताह भर यह उत्सव चलता था। कुछ दिन पूर्व उस की तैयारी में लग जाते थे। उत्सव के बाद कुछ दिन उसको समेटने में लग जाते थे। विदाई के दिन सब शिष्यों को श्री गुरुदेव वस्त्र आदि आश्रम के ऊपर वाले बरामदे में बैठ कर बुला बुला कर सबको यह वस्तुएँ फेंक देते थे। मुझे **4** बार आपने केवल चरण पादुकाएँ ही दी थीं। उसके बाद वह बहुत सी वस्तुएँ ऊपर से ही फेंकते थे और लोग उन्हें लूटते थे। वह दृश्य बहुत ही सुन्दर दिखता था। सब में एक नई उमंग और प्रसन्नता की लहर दौड़ जाती थी और आप भी खूब हँसते थे।

श्री गुरुदेव कहते थे कि, ''गुरु के प्रति श्रद्धा भक्ति व भय होना चाहिये। उनके द्वारा दुःख, कष्ट या दण्ड देने से भी उसे आशीर्वाद मानकर आनन्द के साथ सहन करना चाहिये। गुरू ही शिष्य का एक मात्र परम हितैषी है। यह विश्वास सदा जाग्रत रखना चाहिये कि वे जो कुछ करते हैं शिष्य के कल्याण के लिये ही करते हैं। गुरुदेव के आदेश की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। व्यसनों में लिप्त व्यक्ति कभी भी आत्मज्ञान व भगवत् भक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता। शारीरिक बल ही बल नहीं, यथार्थ धर्म का बल ही बल है। संकल्प में जो दृढ़ है, प्रतिज्ञा में जो अविचल है, जो जितेन्द्रिय है, जो मन-वचन कर्म में गुरू का आदेश पालन



में तत्पर है वही भगवान को प्राप्त करने का अधिकारी है। गुरु-शिष्य का मौनावस्था में ही भावों का आदान-प्रदान होता है। गुरु की इच्छा व कृपा से सब कुछ होता है। गुरू के प्रति सर्वदा श्रद्धाभक्ति अनुराग से युक्त रहना चाहिये। पति-पत्नी में जैसा घनिष्ठ सम्बन्ध है, गुरु शिष्य का सम्बन्ध उससे भी अधिक घनिष्ठ तथा अतिसूक्ष्म है। सती स्त्री संसार के कार्य में व्यस्त रहने पर भी सदा पति की चिन्ता में ही निमग्न रहती है, और उसके सुख की कामना करती है। शिष्य भी इसी प्रकार गुरु के निर्देशित और अभिप्रेत कार्य में संलग्न रहते हुए सर्व-नियन्ता परम गुरु की चिन्ता में लीन रहता है। गुरु-सेवा किसे कहते हैं ? चौबीस घन्टे गुरु के निर्णीत पथ पर चलकर उनका इच्छित कर्म करना ही गुरु सेवा है।''

श्री गुरुदेव के हृदय की करुणधारा जीवों के पथ को दर्शाती हुई प्रवाहित होती हुई क्रमशः विस्तृत होने लगी। पहले वह कश्मीरी भाषा में ही ज्यादा उपदेश देते थे अथवा पढ़ाते थे, फिर हिन्दी और अंग्रेजी में भी, सब भक्तों की मातृभाषा में भी उपदेश देने लगे। उनका हृदय कितना करुणा पूर्ण था। उन्होंने मानव कल्याण का अमोघ संकल्प ग्रहण कर लिया था। एक-एक करके वह सबको उपदेश करते थे और कभी-कभी सामुदायिक रूप से उपदेश भी देते थे। रविवार के दिन आश्रम सबके लिये खुला होता था, और उस दिन गुरुदेव शास्त्रों की व्याख्या करते थे। विद्यार्थी-युवक, शिक्षक-अध्यापक, सरकारी-कर्मचारी, स्त्री-पुरूष इत्यादि का अविच्छन्न प्रवाह प्रवाहित होता था, श्री गुरुदेव की तपः शक्ति की प्ररेणा व अमृतमय उपदेश प्राप्त करना ही सबका उद्देश्य था।

गुरुदेव जहाँ भी जाते, मधु-लोलुप मधुमक्षिकाओं की भाँति अनेकों नर-नारी उनके निकट आते थे, भले ही वे किसी भी मत व पथ के क्यों न हों वहाँ किसी प्रकार का भेद नहीं था। उनके पास सबका समानाधिकार था। आधार व आग्रह के अनुसार वे साधन व उपदेश प्रदान करते थे।



असंख्य नर-नारी उनके दर्शन के लिये आते थे। सब के आगमन का उद्देश्य एक ही नहीं होता था। सब कोई श्रद्धा-भक्ति-विश्वास से अनुप्राणित होकर भी नहीं आते थे। कोई अर्थ की कामना से आता था, तो कोई जिज्ञासु अथवा संशय मिटाने आ जाता था। कोई तो ये कैसे महापुरुष हैं—इनकी परीक्षा लेने आता था। कोई केवल तर्कवाद लेकर ही उपस्थित होता था। कोई साक्षात् शंकर मान कर भक्तिविह्वल भाव से प्रणाम पूर्वक आशीर्वाद ग्रहण करता था। किसी-किसी को प्रणाम करने के साथ ही, गुरुदेव, उनके मन में जो प्रश्न होता था, उसका उत्तर दे देते थे। किसी का उनके समीप उपस्थित होते ही संशय का समाधान हो जाता था। कितने ही अनुतप्त प्राणी, श्री चरणों में नतमस्तक होकर अश्रुध ारा के साथ-आत्म-निवेदन करके सान्त्वना व आश्वासन प्राप्त करते थे। किसी का किसी प्रकार का अनावश्यक वाक्-वितर्क करने से वह मौन हो जाते थे। उनको गम्भीर देख कर वह भयभीत होकर बाहर चला जाता था। पीछे कहते थे—पागल, कितना प्रलाप करता है। एक व्यक्ति कुछ विक्षिप्त भी था और शारीरिक कष्ट में भी था। उसकी नौकरी चली जावेगी, उसका भी भय था। उससे कहने लगे कि-''मेरे ऊपर सब भार सौंप दे, तेरा सब कुछ ठीक हो जावेगा, तू कुछ चिन्ता न कर, तू आनन्द से विचरण कर।'' उसका सब कुछ ठीक हो गया। देहली में एक अधेड़ आयु की स्त्री आई। श्री गुरुदेव उससे पहले कभी भी नहीं मिले थे। उससे कहने लगे कि, ''तुम्हारे जन्म-जन्मान्तर के पाप-ताप को मैंने ग्रहण किया, किन्तु आज से आगे जो तू करेगी वह तुम्हें भोगना पड़ेगा।'' अपने कुल पुरोहित को एक बार एक सिरहाना और रजाई दी। भारी होने के कारण, वह उसे वहाँ ही किसी के घर में रख गया। कुछ दिनों के बाद उसका मकान जल गया। वही रजाई और सिरहाना उसके काम आया। इस प्रकार की नई नई घटनाऐं नित्य ही होती रहती थीं। उनका कहाँ तक वर्णन करें ! उनका वरदहस्त अभी भी हमारे सर पर सदैव है। इसमें ज़रा भी संशय नहीं। हरिद्वार अस्थियाँ विसर्जन करने जब हम सब शिष्य गये थे तो दो तीन बसें हमारे साथ थीं और पाँच छः



कारें भी थीं। इतने लोगों के लिये एक जगह स्थान पाना कठिन था, दो तीन स्थानों पर प्रबन्ध किया गया था। किन्तु हम सबके लिये श्री गुरुदेव ने एक ही स्थान पर प्रबन्ध करवा दिया था। हर की पौड़ी के पास ही एक आश्रम है, उसके महन्तजी को सुबह **3** बजे स्वप्न में कहा कि ''हमारे शिष्य कश्मीर से आ रहे हैं, उनके लिये प्रबन्ध करो। उन्हें कोई कष्ट नहीं होना चाहिये।'' वह एकदम जाग गये और नौकरों को कहा कि सब कमरे साफ करो। उनके पास लगभग **100** कमरे थे। एक सन्त का आदेश हुआ है, उनके शिष्य आ रहे हैं और बाहर वाले दरवाज़े पर दो नौकर खड़े करवा दिये। यदि कोई कश्मीरी दिखे तो उन्हें अन्दर बुला लेना। सब कारें और बसें रुक कर स्टेशन के पास पीछे वालों का इन्तज़ार कर रही थीं अथवा जो गाड़ियाँ पीछे रह गई थीं। इतने में कुछ लोग आगे पैदल चल पड़े और महन्त जी से उनका मिलन हुआ और उन्होंने आकर कहा कि हमारा सबका प्रबन्ध एक बड़ी धर्मशाला में हो गया है। हम सब एक ही जगह ठहर गये, इसका अर्थ यह हुआ कि हम सबका योग-क्षेम वही कर रहे हैं।

श्री स्वामी जी रामायण के बड़े प्रेमी थे। उनके श्री मुख से मैंने सुना है एक बार कि ''मैं बहुत रामायण का पाठ किया करता था। उन दिनों मेरी यह दशा थी कि एक कमरे के कोने में बैठा रहता था और रोता रहता था। तब ही मुझे श्री हनुमान जी का उनके परिवार सहित साक्षात्कार हुआ।''

गृहस्थियों से कहते ! ''तुम अपने घर में रहो, धर्म के लिये घर द्वार त्याग कर कहीं जाकर योग साधना या तपस्या नहीं करनी होगी। जो जिस स्थान पर है जिस उपार्जन वृत्ति में संलग्न है वह वहीं रहे। धर्म साधना के लिये वहाँ से एक पग भी हिलना नहीं होगा। ऋषि-मुनियों ने तथा श्री कृष्ण भगवान ने स्वधर्म पालन का उपदेश दिया है। यह विचार रखो कि सायंकाल से प्रातःकाल तक एवं पुनः प्रातःकाल से सायकाल पर्यन्त जो कुछ करते हो—चिन्ता तथा कार्य-कर्म-कलाप सब कुछ जगज्जननी की पूजा है। इसी विश्वाकार पूजा से



तृप्ति और तुष्टि प्राप्त होती है। अनासक्त होकर भगवान के चरणों में सब कर्मफल अर्पण कर उत्साह के साथ जीवन पथ पर अग्रसर होओ। यही गार्हस्थ्य जीवन की साधना है। तब धर्म और कर्म एक हो जायेगा। उस समय अनुभव करोगे कि श्री भगवान की प्राप्ति के लिये जो कुछ किया जाये—चिन्ता, कार्य, कर्म सब कुछ धर्म है। उसी से प्राण-मन-शुद्ध-पवित्र व आनन्दमय हो जाता है। भगवान् को छोड़कर जो कुछ भी किया जावे वही पाप और अधर्म है। उससे बन्धन की सृष्टि होती है, उसीसे अशान्ति आती है। भोग में संयम, संकल्प में दृढ़ता, कर्त्तव्य में निष्ठा, कर्म में उत्साह होना चाहिये। भोग्य वस्तु व जड़ सम्पदा अनित्य है। अतः गुरु में अविचल श्रद्धा, शास्त्र में दृढ़ विश्वास तथा निष्कपट सरल मन ही शुद्ध गृहस्थ आश्रम है तथा सत्‌जीव की आत्म विस्मृति होने पर भी वास्तव में वह चितशक्ति का ही अंश है। जीव माया जाल में डूब गया है, फिर उसे उसी चित् शक्ति में लौटना होगा। एक ओर शिव और उसकी शक्ति है दूसरी ओर जीव और उसकी शक्ति है। सत् गुरू की कृपा से जीव शक्ति जाग्रत होकर भक्ति के रूप में परिणत होती है। शैवमत में इसीको कुण्डलिनी के नाम से कहा गया है। यही कुण्डलिनी प्रबुद्ध होकर मध्यमार्ग का अवलम्बन कर स्वतः ही ऊर्ध्व की ओर संचालित होती है। ज्ञान और भक्ति का विकास ही वास्तव में इस ऊर्ध्वमुखी शक्ति के विकास का ही नामान्तर है। शिव और जीव का परस्पर मिलन तथा दोनों शक्तियों का परस्पर मिलन जितना ही ऊपर को उत्थान होता है, उतना ही जीव और आत्मा का व्यवधान का ही ह्रास हो जाता है। अन्त में सामरस्य भाव का उदय होता है। तब जीव की भक्ति रूपा शक्ति शिव की चित शक्ति के साथ समान रूप से मिल जाती है। यही सामरस्य है, अथवा नित्योदित समाधि दशा है। यह सब गुरू कृपा से ही संभव है। इसे प्राप्त करने के लिये तीन प्रकार की कृपा चाहिये। प्रथम भगवत्-कृपा अथवा अनुग्रह, द्वितीय श्री सत् गुरु कृपा, तीसरी अपने ऊपर अपनी कृपा अर्थात् बड़ी लगन तथा भक्ति पूर्वक अपने पथ पर चलना, अग्रसर होना।''



श्री स्वामी जी सब भक्तों को साथ लेकर और कभी कभी कतिपय लोगों को साथ लेकर, श्रीनगर के आसपास अथवा दूर दूर तक यात्रा करने के लिये जाते थे। रास्ते में कीर्तन और सत्संग भी होता था। भोजन और चाय-नाश्ते का पूरा प्रबन्ध होता था। सबका ध्यान रखते थे कि किसी को कोई कष्ट न हो। श्री स्वामी जी को यह पसन्द नहीं था कि वह अलग कार में जायें। वह कभी किसी बस में बैठते थे और कभी किसी बस में। उनकी इच्छा होती थी कि सबको सुख मिले। जिन-जिन स्थानों की उन्होनें ने यात्रा की उनके नाम यह है—अमरनाथ यात्रा, वेरीनाग, स्यद्धमाल्युन, तक्षकनाग, हांगुलगुण्ड, टंगमर्ग, नारायण नाग, दारा और दाछीगावँ, हरमुकुटगंगा, हरिद्वार, वृन्दावन, बरसाना, गिरिराज आदि।

दाछी गाँव के पास राजाओं के आखेट का स्थान है। उसे द्रापहामा कहते हैं। उसके पास ही शंकरपल नाम वाली शिला है। हम कई बार श्री स्वामी जी के साथ वहाँ गये। वहाँ घना जंगल है, साथ ही एक छोटी सी नदी तेज गति से पत्थरों से टकराती हुई चल रही है। श्री स्वामी जी वहां जब भी जाते तो अवश्य स्नान करते थे और सबको भी स्नान करने के लिये कहते थे। यह स्थान महादेव पर्वत के दामन में है। यह स्थान श्री वसुगुप्त आचार्यवर्य ने प्रकट किया था। उन्हें श्री शंकर भगवान ने स्वप्न में दर्शन देकर यह आदेश दिया कि शंकरपल शिला के तले शिवसूत्र खुदे हुए हैं। वहाँ जाकर स्पर्शमात्र से वह शिला उलट जावेगी और शिवसूत्रों को वहाँ से लेकर उसका प्रचार करो। दूसरी बार छूने से वह फिर उलट जावेगी। इसका हम आगे विवेचन करेंगे।

श्री गुरुदेव कश्मीर के शैवी ग्रंथों के अद्वितीय मर्मज्ञ थे। १६३३ ईस्वी में उन्होंने श्री अभिनवगुप्त के गीतासंग्रह का सम्पादन किया। उन्होंने सांबपंचाशिका, जो कि एक प्राचीन और सारगर्भित ग्रंथ है, इसमें चित सूर्य की बहुत सुन्दर ढंग से स्तुति की गई है, इसे उन्होंने पाद-टिप्पणियों सहित हिन्दी में अनुवाद कर संवत् २००० में छपवाया। 'क्रमनय-प्रदीपिका' को हिन्दी में लिखकर उन्होंने



१६५६ में इसे छपवाया। शिवस्तोत्रवलि आचार्य उत्पलदेव द्वारा लिखित तथा आचार्य क्षेमराज जी द्वारा जिसकी संस्कृत टीका की गई थी, उसी ग्रन्थ को श्री स्वामी जी ने पाद टिप्पणियों सहित हिन्दी में टीका करके सुशोभित किया। भक्तजनों के लिये यह पुस्तक बहुत ही उपयोगी और महत्वपूर्ण है और यह पुस्तक १६६४ ईस्वी में वाराणसी से चौखम्बा सीरिज़ से प्रकाशित हुई। इस पुस्तक के प्रति श्री स्वामी जी बहुत ही वैराग्यपूर्ण वाक्य कहा करते थे, कि ''एक ही कौपीन वस्त्र धारण करके, हाथ में केवल एक वही पुस्तक लेकर, घोर वन में चले जाना चाहिये। ज्यादा शास्त्रों से क्या प्रयोजन हैं ? यह रसिकजनों को रसास्वादन का आनन्द प्रदान करने वाली पुस्तक है।''

इसके उपरान्त रविवार को जो वह व्याख्यान देते रहे १६७१.१६७२ तक उसके फलस्वरूप अंग्रेजी में कश्मीर शैवइज़्म "दि सीक्रेट सूप्रीम" के नाम से एक पुस्तक १६८८ में प्रकाशित हुई।

१६८२ वाले व्याख्यानों के फलस्वरूप "लेकचर्स आन प्रेक्टिस एंड डिसिप्लिन" १६८२ में प्रकाशित हुई।

श्री स्वामी जी के लिये श्री रणबीर शिवमन्दिर गुप्तगंगा में धर्मार्थ ट्रस्ट जम्मू और कश्मीर से जिसके सोल ट्रस्टी डाक्टर करण सिंह जी हैं, उनके द्वारा कश्मीर शैव-मठिका की स्थापना की गई। श्री स्वामी जी प्रति रविवार को वहाँ शास्त्रों की व्याख्या करते थे। उसके अतिरिक्त वहाँ और भी सम्मेलन तथा हवन शाला में हवन आदि होते रहते थे।

१६६५ में एक तन्त्र सम्मेलन वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय की ओर से हुआ था। उसमें दूर दूर से विख्यात विद्वान् तथा पण्डित एकत्रित हुए थे। लगभग सबने हिन्दी में ही बोला किन्तु श्री स्वामी जी ने संस्कृत में कुण्डलिनी विज्ञान रहस्य पर बोला जो कि उनके द्वारा हस्त लिखित ही था। कुछ समय के उपरान्त



विश्व विद्यालय, वाराणसी में श्री स्वामी जी को डाक्टर की उपाधि दी। जब उन्हें पता चला तो बालकस्वभाववत् कहने लगे कि ''अच्छा अब मैं डाक्टर बन गया हूँ।''

डाक्टर करण सिंह जी तथा श्रीमती इन्दरा गांधी भी कई बार उनसे आशीर्वाद लेने आश्रम में आते रहते थे। कई सन्त यदा कदा उनसे मिलकर हर्षित होते थे। उनकी कृपा से हमें घर बैठे ही उन सब संतो के दर्शन हो जाते थे। जैसे श्री महाराज बालकृष्णदास जी, श्री रामानन्द जी-श्री स्वामी जी जिन्हें त्राटकेश्वर कहते थे। राधा स्वामी के आदि गुरु सावन सिंहजी, बावा मुक्तानन्दजी, कई मस्ताने सन्त कश्मीर के, उनसे मिलने आते थे। एक सिद्ध सन्त, जिन्हें हम रामजी कहते थे और श्री स्वामी जी उन्हें तपस्वी जी कहते थे, वह तो कई वर्षो तक आश्रम में ही एक कुटिया में रहे। कई सूफी सन्त भी स्वामी जी का दर्शन करने आते थे।

श्री स्वामी जी जब भी किसी शिष्य को उपदेश देते थे, तो जिस जिस इष्ट के प्रति जिसे रूचि होती थी उसीका उपदेश देते थे। कृष्णभक्तों को श्रीकृष्ण का, रामभक्तों को श्रीराम का, हनुमानभक्तों को हनुमान का, देवीभक्तों को श्रीदेवी का जप करने के लिए कहते थे। उसीके साथ-साथ धारणा, ध्यान और समाधि का उपदेश भी देते थे। यही उनका दीक्षा क्रम था। वह कहते थे कि, ''जिसका मन एकाग्र नहीं है, वह भला किसकी भक्ति कर सकता है।'' एक बार मुझे श्री वृंदावन में गोस्वामी अतुल जी के मुख से ''श्री राधा सुधानिधि'' ग्रन्थ सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उन्होंने कहा कि, ''जितनी गोपिकायें थीं वह सब समाधि-निष्ठ थीं। उसके उपरान्त ही वह सब प्रेम भक्ति की अधिकारिणी हुईं। कुछ वेदों की श्रुतियाँ थी और कुछ दण्डकारण्य के ऋषि-मुनि थे आदि-आदि।''

आप अब यह प्रश्न कर सकते हैं कि बाल्यकाल में ही समाधि में डूब जाने पर भी उन्हें, श्री स्वामी जी को, इतने एकान्त वास करने की क्या आवश्यकता



थी। यह ऐसी दशा है कि यह जितनी बढ़ती जाती है उतना ही उससे विलग होना सहन नहीं होता। एक क्षण के लिये भी उतना ही अनुताप बढ़ता जाता है। एक सिद्ध सन्त कहा करते थे कि एक अफीमची द्वारा अफीम खाते खाते उसका घर बार भी सब बिक जाता है। अर्थात् अफीम खरीदने के लिये उसे धन की आवश्यकता होती है, फिर भी वह अफीमची कहता है कि मैनें अफीम खाई ही कहाँ। यही दशा एक सन्त की होती है। उसे तसल्ली-चैन-धीरज कैसा ? यदि तसल्ली-चैन-धीरज आ गया, तो वह दशा ही कैसी ? अर्थात् वह दशा ही नहीं। यहाँ पर डूब कर भी डूबना है। जहां पर कोई किनारा ही नहीं है। इस किनारे वाला कहता है वह किनारा है और दूसरे किनारे वाला कहता है कि वह किनारा है, ओर छोर ही नहीं। अतः भगवान ही सब ओर विराजमान व्यापक है, उनसे रिक्त कुछ भी नहीं है।

इस दशा का अनुमान तो वही महापुरुष लगा सकते हैं जो इस दशा में गये हैं। श्री गुरुदेव की भी वही दशा हुई। उनका अनुताप इतना तीव्र से तीव्र होता गया कि वह उसे संभाल न सके और वे भैरवी (उन्माद) अवस्था में ही रहने लगे। रात्रि भर एक क्षण नीद नहीं करते थे, और रात्रि भर घूमते रहते थे। उनका बल और सर्व व्यापकता इतनी बढ़ गई थी, जिसका वर्णन करना अशक्य है। यह तो जिस जिस ने अपने नेत्रों से देखा है, वही कह सकते हैं। श्री गुरूनानक देव जी ने भी यही कहा है, ''भांग-धतूरा-उतर जात प्रभात, नाम खुमारी नानका चढ़ी रहे दिन रात।''

यह दशा श्री चैतन्यमहाप्रभु जी की और परमहंस रामकृष्ण जी की भी थी। वह सदा अपनी दशा में ही रहते थे, किन्तु फिर भी वियोग का अनुभव करते थे। इस दशा में जाने पर सब का शरीर टिक नहीं सकता—देहपात हो सकता है। अतः इस शक्तिपात को सहन करने में सब की देह असमर्थ है। अतः दिव्य देह ही इसे संभालने में समर्थ है। श्री भगवान को जिन-जिन महापुरुषों की देह द्वारा कुछ न कुछ विशेष कार्य करवाना होता है, वही उसे सहन करने में समर्थ



हो सकते हैं। उसीमें से एक हमारे यह चरित्र नायक भी थे। महाराज जी का तो अन्तिम समय में देहाभास पूर्णरूप से छूट गया था। वे तो भावावेश में आकर श्लोक बोलते थे, नाचते भी थे, कीर्तन भी करते थे। एक बार भगवान श्रीकृष्ण के शुभ जन्मदिवस पर उन्माद की दशा में श्लोक बोलने लगे, कीर्तन करने लगे और नृत्य भी। भावावेश में रुदन भी कर रहे थे। धूप में खड़े खड़े नंगे पाँव सब कुछ हो रहा है। देह की सुधि नहीं है, बहुत समय तक वही करते रहे और फिर कहने लगे कि श्रीकृष्ण का जन्म होने ही वाला है। उस समय कतिपय लोग ही आश्रम में आये थे। उनकी यह दशा देख कर-ना धूप की परवाह है, ना धूली में खड़े होने की परवाह है। सब भक्तजन भी रुदन कर रहे थे। इतने में फुर्ती से नीचे एक गद्दी को फेंका और उस पर बैठ गये और दोनों हाथों से अपने पाँव का अगूँठा पकड़ कर चूसने लगे। श्रीकृष्ण का अनुकरण करने लगे। उस समय साक्षात् श्रीकृष्ण के दर्शन सबको उनमें होने लगे। उनके शरीर में ऐसी लचक कहाँ से आई थी, जबकि उन की आयु उस समय लगभग 80 वर्ष की थी ? जैसे महारास में जब श्रीकृष्ण अन्तर्धान हो गये तो गोपियाँ उनका अनुकरण करने लगी थीं, जिससे उनकी श्रीकृष्ण मिलन की वह पिपासा अथवा ज्वाला कुछ शांत हुई थी। वैसे ही हम सभी भक्तों को महाराज जी की सम्पूर्ण जीवन-लीला की प्रत्यभिज्ञा हो जाने से उनका पुनः सान्निध्य सा प्राप्त होता है जिसके फल-स्वरूप हमारी वियोग की ज्वाला शांत हो जाती है।

एक सिद्ध सन्त सदा कहते थे कि गुरु सदा समाधिनिष्ठ होना चाहिये क्योंकि वह समर्थ गुरु ही दीक्षाक्रम द्वारा शिष्य में शक्ति का संचार कर सकता है। उसीसे दिव्य देह की प्राप्ति अथवा नूतन जन्म प्राप्त हो सकता है, उस दीक्षा प्राप्ति के बाद ब्रह्मचर्य तथा संयम का पालन करना परम आवश्यक है। उसके साथ ही साथ विचार शुद्धि और बोध शक्ति का भी उपार्जन करना चाहिये। पवित्र जीवन, निश्चिन्त भाव और एकाग्रता दिव्य भाव के सहायक हैं। एकाग्रता प्राप्त होने पर



चित्त अन्तर्मुख होकर सूक्ष्म तत्त्व के ध्यान में उन्मुख होने से चित शक्ति का विकास होता है। जिससे योगी की स्वेच्छा के अनुसार समाधि लग जाती है। यह समाधि प्रचलित जड़ समाधि से विलक्षण है। इस समाधि में चेतना लुप्त नहीं होती और अपनी नियन्त्रण शक्ति भी बनी रहती है। यह आन्तरिक योगमार्ग शुद्ध मन की भावना के बल से खुलता है।

• • •

इदं शरीरं परिणामपेशलं
पतत्यवश्यं श्लथसंधिजर्जरम्।
किमौषधैः क्लिश्यसि मूढ़ दुर्मते
निरामयं कृष्णरसायनं पिब।।

(मुकुन्दमाला)














''आदेश''

श्री ईश्वरस्वरूप जी महाराज का आदेशः
त्रिकमार्ग के शैवी साधकों
के हितार्थ उपदेशामृत

१) भगवान के प्रति निश्चल भक्ति तथा राग का होना। राग की तीब्रता होने से विषयों के प्रति वैराग्य स्वतः होगा।

२) मानसिक पूजा को ही सर्वोपरि मानना।

३) बाह्य पूजा आदि आडम्बरों को उसी सीमा तक निभाना, जहां तक मन की सावधानता बनी रहे।

४) सदा अभ्यास परायण रहना।

५) व्यर्थ के वादविवाद में पड़कर अमूल्य समय को न खो देना।

६) भूत, भविष्यत् समय का विचार न करके सदा वर्तमान में रह कर सावधान रहना।

७) लोगों के व्यवहार में टांग न अड़ाकर, अपना अनुसन्धान बनाये रखना। यही वास्तविक यज्ञ है।

८) शैवी ग्रन्थों का अवलोकन व मनन करते रहना।

९) शरीर को स्वस्थ रखने के लिए दिन को थोड़ी देर के लिए विश्राम ले लेना। न कि रात की भांति तीन चार घंटे सोना।

१०) गुरुजनों तथा अद्वैत-शास्त्रों पर अटल विश्वास तथा आदर का होना।

११) भोजन करते हुए बातें न करना। इसे भगवान् के प्रति आहुति समझ कर अति प्रेम तथा एकाग्रता पूर्वक भोजन करना।

१२) सैर करते हुए भी किसी से वार्तालाप न करना। पांव के प्रति क़दम पर ध्यान रखते हुए, मध्य अनुसन्धान बनाये रखना।

१३) विश्व को शिवमय देख कर किसी के प्रति राग द्वेष का न होना।

१४) अपने मन का संतुलन बनाये रखना। मन की चेष्टाओं को देखते रहना। देखना भी अभ्यास ही है।

१५) अभ्यास करते हुए मन ऊब जाये तो मानसिक जप करना। इस से अन्तःकरण शुद्ध होता है।

१६) सभी संतों, विद्वानों और महापुरुषों के सामने शीश झुकाना। उन में भी अपने गुरु महाराज का रूप देखना। शीष झुकाने से देह अभिमान कम हो जाता है।

१७) सभी से प्रेम पूर्वक वार्तालाप करना। स्मरण रहे सभी शरीरों में भगवान ही वास कर रहे हैं।

१८) स्वादिष्ट, शुद्ध, सात्विक भोजन करना। मांसाहारी न बनना। किसी भी प्राणी का वध करना अति पाप है।

१६) मादक पदार्थों का सवेन न करना। इससे शरीर बिगड़ जायेगा और अभ्यास न हो सकेगा।

२०) रात को दस बजे सोना और प्रातः चार बजे जाग कर प्रभु के अभ्यास में तल्लीन बनना।

२१) यदि नेत्र बन्द करके संकल्प-विकल्प आते रहें तो नेत्र खोल कर ही अभ्यास करना। ऐसा करने से संकल्प-विकल्प रूपी चोर फटक नहीं सकेंगे।

२२) किसी के साथ भी गहन संबन्ध न बनाना। विश्व की नश्वरता सदा स्मरण रखना।

२३) घर, गृहस्थी का पालन प्रेम से करना। इसे झंझट तथा माया का रूप न समझ कर, इससे दूर रहने का संकल्प न करना। इस को निभाते हुए ही अपना अभ्यास बनाये रखना।

२४) किसी के गुण, अवगुण न देख कर अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सदा कटिबद्ध रहना।

२५) गुरु भाइयों, गुरु बहनों से गहन संबन्ध न जोड़कर, गुरुवर्य के उपदेशों का अनुसरण करते रहना। यही सफलता की चाबी है।

• • •

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं
वित्ते नृपालाद् भयं,
मौने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे
जरायाद् भयं।
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं
काये कृतान्ताद् भयं
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणाम्
वैराग्यमेवाभयम्।।३।।

(वैराग्यशतकम्)



कुण्डलिनी विज्ञानरहस्यम्

श्री ब्रह्मचारी राजानकलक्ष्मणः कश्मीरस्यगुप्तगङ्गान्तर्गतेश्वराश्रमवास्तव्यः।

स्वाधारादुल्लसन्ती द्युतिविदितमहादिव्यतेजःस्वरूपा।
षट्चक्रं स्फारयन्ती गतिकृतमधुरमध्वानमावेदयन्ती।।
प्राप्येशं तोषयन्ती दशशतकमले व्याप्य विश्वंस्थिता या।
विश्वानन्दप्रवाहान् वितरतु भवतां कौलिकी कुण्डली सा ।।

भोः भोः शैवागम निष्णाताः श्रोतारः! अद्य मया कुडलिनीविज्ञानविषयमधिकृत्य यथाबुद्धि यथागुर्वाम्नायञ्च किञ्चित् प्रस्तूयते। सावधानतया तत् श्रुण्वन्तु भवन्तः।

सामान्यरूपतयापूर्णाहन्तारूपा शैवी विसर्गशक्तिः कथ्यते, या सार्ध त्रिवलयाकारा आम्नायेषु प्रतिपाद्यते। तत्र प्रमेयप्रधानमहन्तारूपं कुण्डलिन्याः प्रथमो वलयः प्रमाणप्रधानमहन्तारूपत्वं द्वितीयो वलयः, प्रमातृप्रधानमहंस्वरूपत्वं चास्यास्तृतीयो वलयः तथावशिष्टार्धवलयः प्रमाप्रधानाहमात्मक इत्यस्या आगमिकी रहस्यप्रक्रिया।

इत्येवंरूपा परविमर्शत्मासौ परा संविदेव यदा बहिरौन्मुख्यलक्षणात् स्वातन्त्र्यात्तद्रूपतयाऽवबिभासयिषया स्वात्मन्येव प्रोल्लसति, तदा सा परा शक्तिर्धटपटादिभावं स्वात्माभिन्नरूपतया विमृशन्ती सुप्ताहिसदृशी शक्ति कुण्डलिनीति सर्वाम्नायेषु निगद्यते। येयम्–

प्रकाश्यसर्ववस्तूनां विसर्गरहिता तु सा (३-१३६)–तं.

इति श्रीतन्त्रालोकोक्तनीत्या विसर्गरुपापि विसर्गरूपतामनश्नुवाना
स्वात्मन्येव चमत्कृतिमयी शिवस्याद्योन्मेषात्मिका शक्तिर्भवति।।

किञ्च, शैवशासनदृष्ट्या यदा योगी स्वात्माभिन्नशिवस्वरूपपरार्मशानुसन्धानवशा द्विश्वात्म सात्काररूपायां समावेशभूमौ तिष्ठति तदास्य विसर्गशक्तौ समावेशो



जायते, येन स परमं शक्तिस्पन्दं स्वात्मनि चमत्कुर्वन् शक्तिकुण्डलिनी दशामाविशति। शक्तिकुण्डलिन्याः स्वरूपं तन्त्रसद्भावे यथा–

या सा शक्तिः परा सूक्ष्मा निराचारेति कीर्तिता।
हृद्बिन्दुं वेष्टयित्वान्तः सुषुप्तभुजगाकृतिः।।
तत्र सुप्ता महाभागे न किञ्चिन्मन्यते उमे।
चन्द्राग्निरविनक्षत्रभुवनानि चतुर्दश।।
क्षिप्तोदरे तु या देवी विषमूढेव सा गता।।
सैव शक्तिकुण्डलिनी भगवती श्रीतन्त्रालोके ।
कला सप्तदशी तस्मादमृताकाररूपिणी।।

इत्यारभ्य

प्रकाश्यसर्ववस्तूनां विसर्गरहिता तु सा ।
शक्तिकुण्डलिका .... ।।

इत्यन्तं निरुपितास्ति। परापरशक्तयपरपर्याया या विसर्गशक्तेरियं बीजात्मिका मध्यमा दशा भवति। अस्या विसर्गशक्ते–राद्यन्तदशयोर्वर्णनं प्राणकुण्डलिनी पराकुण्डलिनीनिरूपणावसरे भविष्यति।

कामकलापरामर्शानुसारेण कौलयोग्यापि चर्याक्रमे तां शक्तिकुण्डलिनीं सिद्धयोगिनीसंघहात्मक समावेशावसरे कामतत्त्वरूपतया साक्षात्करोति। यदाहुराचार्याभिनवगुप्तपादाः–

अत एव विसर्गोऽयमव्यक्तहकलात्मकः।
कामतत्त्वमिति श्रीमत्कुलगुह्वर उच्यते।।
कामस्य पूर्णता तत्त्वं संङ्घट्टे प्रविभाव्यते।। (तं.-३-१४६)

श्री वातूलनाथाचार्येणापि–

सिद्धयोगिनीसंघट्टान्महामेलापोदयः।



इत्यस्मिन् सूत्रे महामेलापशब्देन सेयं शक्ति कुण्डलिनी निरुपिता, यस्यां क्षणमात्रमपि स्थितिं प्राप्य कालयोगी वेद्यवेदकात्मशिवशक्त्यात्मद्वयविगलेन तां शिवशक्त्यात्ममहासामरस्यरुपां स्थितिमनुभवति—इत्यस्यां सिद्धयोगिनीसंघट्यात्म महामेलापदशायां शक्तिकुण्डलिनी दशामनुभवन् यः कौलयोगी चर्याक्रममाचरति, स एव चर्याक्रमेऽधिकृतोऽस्ति, नान्यः इत्यवधातव्यः, तस्मात् परिपूर्ण स्वात्मावमर्शनिष्ठानां पूर्णाशयानामेवास्मिन्निरुत्तर समावेशास्पदचर्याक्रमेऽधिकारो नेतरेषाम्। यदाहुः श्रीक्षेमराजपादाः —

ते नात्राधिकृताः परैः पुनरिदं पूर्णाशयैश्चर्व्यताम् (स्प० नि०)

अथप्राणकुण्डलिनीस्वरुपं निर्णीयते—चिच्चमत्कृतिरुपा विसर्गशक्तिः,
स्वात्मनः स्वात्मनि स्वात्मक्षेपो वैसर्गिकी स्थितिः ।। (तं. ३—१४१)

इत्याचार्याभिनवगुप्तपादोक्तया स्वात्मन्येव विसर्गोन्मेषदशां परामृशन्ती "प्राक् संवित प्राणे परिणता" इति नयेन प्राणनरुपतां चावभासयन्तीं प्राण-कुण्डलिनी रुपतयागमेषु निरूप्यते। यद्यप्यस्यां प्राणकुण्डलिनी रुपायां विसर्गशक्तौ प्राणनरुपत्वाद् बहिर्भावावभासनात्मिका स्थितिर्दृश्यते, तथाप्यत्र प्राणादि पञ्चवाहस्यानुन्मीलनत्वात् स्वात्मानन्दचमत्कृतिमयत्वमेव सर्वतः प्रवर्तते। इयमेव प्राणकुण्डलिनीरूपा चितिशक्तिर्विसर्गस्यादिकोट्यात्मनि स्वरूपे, स्फुरीति कौल-योगिभिरनुभूयते। अत्र तु स्वानुभवसारमपि किञ्चिन्मया वर्ण्यते—

तामाश्रित्योर्ध्वमार्गेण चन्द्रसूर्यावुभावपि।
सौषुम्नेऽध्वन्यस्तमितो हित्वा ब्रह्माण्डगोचरम्।।
तदा तस्मिन् महाव्योम्नि प्रलीनशशिभासकरे।
सौषुप्तपदवन्मूढः प्रबुद्धः स्यादनावृतः।।

स्प० २८.२५

इति श्री वसुगुप्तप्रतिपादितनयेन यदा शैवयोगी क्षणमात्रमप्यवधान शैथिल्यमसहमानः सततमेव शिवत्मभावमनुसन्दधानः समावेशदशायामुन्मुखो



भवति, तदास्य स्वात्मानुसन्धिबलादेवोभौ प्राणापानौ सौषुम्ने मार्गे लयं गच्छतः तदन्तरमस्य, प्राणशक्तिर्मूलाधारपदवीमाश्रयते। तस्मान्मूलाधारान्मध्योर्ध्वमार्गेण प्रोच्छलन्त्यां विकस्वरायां प्राणशक्तौ योगी प्राणकुण्डलिन्यवस्थामनुभवति। अथ (प्राणकुण्डलिनीसमावेशदशायां) याोगिनां द्वे गती भवतः। तत्राद्यायथा केषाञ्चित् प्राणापानौ मध्यमार्गेलयं गच्छतस्तदा प्रथमं तावदधोमुखी सन्तौ लम्बिकास्थानं भित्वाङ्गुलिपिहितकर्णघोषवत् ध्वनन्तौ, मूलाधारचक्रं वेधयतः तदास्य योगिनो मूला धारचक्रेणोक्तप्रकारेणैव सशब्दं पूर्णवेगेन परिवर्तत इति योगी प्राथम्येनानुभवति। ततो मूलाधारचक्रादुत्थिता मध्यवाहिनी प्राणशक्तिर्द्वितीयं नाभिस्थानगतं चक्रं वेधयति यद्वशात्द्वितीयमपि नाभिचक्रं वेगेन सशब्दं परिभ्रमति। तदानीं योगी यौगपद्येनानयोश्चक्रयोः परिवर्तनदशामनुभवति। तदनु तस्य योगिनः प्राणशक्तिर्नाभिचक्रात् समुत्थाय वेगेन हृच्चक्रं वेधयित्वोर्ध्वं गच्छति तदा स योगी हृच्चक्रस्यापि वेगेन वेधयति, परिवर्तनदशामनुभवति। ततः कण्ठस्थानमवाप्तासा मध्यवाहिनी प्राणशक्तिः कंठस्थानगतं चक्रमेव भ्रूमध्यस्थानगतं चक्रञ्च वेगेन वेधयति यद्वशात्ते उभे चक्रे अपि वेगेन परिवर्तते—इत्यस्य योगिन एवानुभवगोचरत्वमेति। इत्थं बिन्दुस्थानगतं चक्रं वेधयित्वायं योग्यस्यां प्राणकुण्डलिनी स्पन्दनदशायां मूलाधारचक्रस्थानादरस्य भ्रूमध्यस्थानगतचक्रपर्यन्तानां समस्तानां चक्राणां यौगपद्येन सवेगं परिवर्तनरूपत्वमनुभवति, यदन्तरमेव योगिनमणिमाद्यष्टसिद्धयः समाश्रयन्ते। अमुमेवाशयं वेधदीक्षाविचारावसरे आचार्याभिनवगुप्तपादाः श्री तन्त्रालोके उपोद्बलयन्ति

वेधदीक्षा च बहुघा तत्र तत्र निरूपिता।
सा चाभ्यासवता कार्या येनोर्ध्वोर्ध्वप्रवेशतः।।
शिष्यस्य चक्रभेदसंप्रत्ययोः जायते ध्रुवः।
येनाणिमादिका सिद्धि .... ।। (२६/२३७–२३८)

अथापरा सूतिर्यथा केषाञ्चिच्च मन्दयोगिनां मध्यनाड्यां यदा प्राणापानावस्तं गच्छतस्तदा तेषां परमेश्वरशक्तिपातस्य मन्दत्वादेव मध्यवाहिनी प्राणशक्ति विंपर्येणैव प्रथमं भ्रूमध्यस्थानगतं चक्रं वेधयति यद्वशादस्य योगिनस्तच्चक्रं प्रथमं



सशब्दं घूर्णते। तदनु कण्ठस्थानगतं चक्रं ततो मूलाधारस्थानानि यावदखिलानि चक्राणि सशब्दं परिवर्तते तेन तस्य योगिनः संसारवासनायास्तत्रावांस्तवात्वेन न किञ्चिदनुभवगोचरत्वमेति। अणिमाद्यष्टसिद्धीनां कथा तु दूरापास्तैव प्रत्युत स योगी निम्नाङ्कितेन पिशाचावेशेन समाविष्टो भूत्वा विघ्नपरम्परामेवानुभवति। यदुक्तं श्रीरत्नमालायाम् –

अधोऽवस्था ययाऊर्ध्वं संक्रामति वरानने।
सैवमोक्षपदावस्था सैव ज्ञानस्य भाजनम्।।
ऊर्ध्वचक्रगतावस्था यदाधः संभवानि च।
तदा पैशाच आवेशः स वै विघ्नस्य कारणम् ।।

अथकामकलां परामृशन् योगी सिद्धयोगिनीसङ्घट्टात्मकावसरात्मके चर्याक्रम इमां प्राणकुण्डलिनीदशां विषतत्वप्रवेशसमयेऽनुभवति। पूर्वोक्तरुपायां महामेलाप दशायामादौ या दशा ह्यनुभूयते, सैव विषतत्वरूपागमेषु वर्णितास्ति।श्री कुलगुह्वरतन्त्रे इयमेव वेधदीक्षा मन्त्र-नाद-बिन्दु-शाक्त- भुजङ्ग-परेतिरूपा षोढा वर्णिता–

मन्त्रवेधं तु नादाख्यं बिन्दुवेधमतः परम्।
शाक्तं भुजङ्गवेधं तु परं षष्ठमुदाहृतम्।।

वेधदीक्षाषट्कस्य स्वरुपमधस्तान्निर्दिश्यते। मूलाधारचक्रादुत्थिता पूर्णाहन्तात्मकमन्त्रस्वरूपां प्राणकुण्डलिनी पूर्णाहन्ताबलात् समस्तानि चक्राणि वेधयन्ती आदिर्या मन्त्रवेधदीक्षेति कथ्यते। मध्योर्ध्ववाक्रमेण च प्रोच्छलन्ती नादाकारा सा द्वितीया नादवेधदीक्षेति भण्यते। वीर्यस्वरुपा सा प्राणकुण्डलिनी समस्तं चक्रवर्गं वेधयन्ती तृतीया बिन्दुवेधदीक्षेति नाम्ना व्यपदिश्यते। शक्तिरूपतामापन्ना चक्रवेधन क्रियापरा सा तुर्या शाक्तवेधदीक्षा भवति। सर्पाकारतामादधाना चक्रवेधनञ्च कुर्वाणा व्युत्तिष्ठन्ती भुजङ्ग वेधदीक्षा पञ्चमी। पराशक्तिरुपतामाश्रयन्ती समस्तचक्र-वेधनशीला सा परवेधदीक्षा षष्ठीति।



अथ पराकुण्डलिनी स्वरुपं विमृश्यते–पराचित्तिरूपा विसर्ग शक्तिर्यदान्तर्भावौन्मुख्यरूपान्तः कोट्यात्मनि स्वरूपे स्वात्मानं चमत्कुर्वाणा पूर्णाहन्तात्मके पदे इदन्तासमावेशं तथेदन्तात्मके पदे पूर्णाहन्तायाः समावेशं कुर्वती समाधिव्युत्थान सामरस्यदायिनी क्रममुद्रारूपां जगदानन्दस्वरूपात्मिकां पराकुण्डलिनी दशां प्रकाशयति। जगदानन्दस्य लक्षणं श्रीतन्त्रालोके यथा –

• • •

न देशो नो रूपं नच समययोगो न परिमा
नचान्योना संगो नच तदपहानिर्न घनता
नचावस्तुतत्त्वं नच किमपि सारं निजमहो
ध्रुवं मोहाशाम्येदितिनिरधिशतदर्पण विधिः।

(तं. तृतीयमाह्निकम्)

• • •

कदाचिद्भक्तियोगेन कर्मणा विद्ययाऽपि वा
ज्ञानधर्मोपदेशेन मन्त्रैर्वा यज्ञयाऽपि वा।
एवमाद्यैरनेकैश्च प्रकारैः परमेश्वरः
संसारिणोऽणुग्रहणाति विश्वस्य जगतां पतिः।।

(तं. चतुर्थमाह्निकम्)

• • •

परम पूज्य श्री रमण महर्षि जी





दाहिने से स्वामी जी बीच में रमण महर्षि जी



दिनचर्या-रमण महर्षि जी की

पू॰ स्वामी लक्ष्मण जू महाराज

आज देवी कमला जी की प्ररेणा से मैं इस पत्र में भगवान् रमण महर्षि की दिनचर्या लिखता हूँ। जब सं० १६३४ में मैं भगवान रमण महर्षि का दर्शन करने त्रिवन्नामलई के ग्राम में पहुँच गया तो मुझे ऐसा लगा कि भूलोक से ऊपर ही मैं किसी दिव्य स्थान में पहुँचा। चलते चलते मैं भगवान् के आश्रम में पहुँच गया। ज्यों ही मैंने महर्षि जी के आनन्ददायक हाल में प्रवेश किया, मेरे हृदय में स्नेहमय भावावेश हुआ। उनके चरणों का दर्शन करने से ही, मुझ से न रुका गया, मेरी आखों से अनथक रूप से अश्रुधारा बहने लगी। महर्षि भगवान् ने स्वयं मुझे सान्त्वना दी। उस हाल में कम से कम एक सौ भक्त चुपचाप बैठे थे। जिन भक्तों में पाँच आठ देवियाँ थीं, चार-पांच अंग्रेज थे और शेष भारतवासी पुरुष थे। सभी मौनरूपता में बैठे हुए अपने अभ्यास में लगे हुए थे। मैं भी महर्षि भगवान के चरणों के समीप ही बैठता हुआ अन्तर्मुख हो गया। एक दो घण्टे के पश्चात् मैंने आँखें खोलीं तो देखा कि मेरे सामने एक सजाये हुए मंच पर भगवान महर्षि बैठे हैं। मैं उनका दर्शन करने से ही दूसरी बार अन्तर्मुख हो गया। मैं उनके इस दिव्य आश्रम में लगभग पंद्रह दिन रहा और उनके दर्शनामृत का पान करता रहा। आज भी वे दिन मेरी स्मृति से दूर नहीं होते। अब मैं उनकी दिनचर्या लिखता हूँ –

प्रातः २ बजे अपने हाल से उठते हैं फिर सीधा लंगर खाने में चले जाते हैं। वहाँ मौन रूपता से ही अपने हाथों से सब्ज़ी काटते हैं। वहाँ से निकलकर २.३० बजे तक जंगल दिशा से निवृत होकर स्नान घर में चले जाते हैं। वहाँ गरम पानी से नहाकर ३ बजे अपने हाल में पहुँचते हैं और फिर उस आनन्दप्रद हाल में भक्तजन चुपचाप होते हुए उस हाल में भगवान् महर्षि को प्रणाम करके अपने अपने आसनों पर बैठ जाते हैं। फिर ४ बजे एक वेदों को जानने वाला



आचार्य अपने वेद-विद्या के विद्यार्थियों सहित उस आनन्दरससिक्त हाल में प्रवेश करता है और श्री महर्षि भगवान के चरणों में दण्डवत्प्रणाम करके सारे बालक अपने गुरुदेव के साथ भगवान के समीप बैठ जाते हैं। फिर गुरु-आज्ञा पाकर वे बालक भगवान रमण महर्षि के सामने वेद-मंत्रों का उच्चारण, स्वर सहित करते हैं और यह वेद-ध्वनि ४ से ५ बजे तक होती है। वेद मंत्रों को समाप्त करके पहिले उन बालकों का, गुरु रमण भगवान के चरणों में दण्डवत् प्रणाम करके एक एक करके, उस हाल को छोड़ते हैं और अपने गुरुकुल (जो कि श्री रमणाश्रम में ही है) की ओर चले जाते हैं।

तत्पश्चात् इनके भक्तों में से कई दो तीन भक्त भगवान के समीप श्री रमण गीता का पाठ करते हैं, और रमण भगवान चुपचाप होकर सुनते रहते हैं। यह रमण गीता का पाठ आठ बजे तक होता है। फिर आठ बजे भगवान उठते हैं और भोजनालय में चले जाते हैं। उनके पीछे-पीछे सारे भक्त भी चले जाते हैं। वहाँ भोजनालय में भगवान महर्षि समस्त भक्तजनों के साथ थोड़ी सी चाय पीते हैं और फिर अपने हाल में लौटते हैं। फिर ११ बजे तक रमण भगवान मौन रूपता में बैठे बैठे ही अपने सामने बैठे हुए समस्त भक्तों को अपनी अनुकम्पात्मिका दृष्टि से—अनुगृहीत करते हैं और सारे भक्त अपने अपने योगाभ्यास में तल्लीन बने रहते हैं। ११ बजे भोजनालय में भगवान अपने भक्तों के साथ भोजन करते हैं और फिर लौटते हैं। अपने हाल की ओर ११.३० बजे से १२.३० बजे तक भगवान के अतिरिक्त कोई भी हाल में नहीं रहता। वहां भगवान हाल में अपने आनन्द में बैठ जाते हैं और केवल एक संन्यासी भक्त उनके चरणों में ही संवहन करता है। तत्पश्चात् १२.३० बजे सारे भक्त उसी हाल में मौन रूपता से प्रवेश करते हैं और अपने अपने आसनों पर बैठ कर योगाभ्यास में तल्लीन हो जाते हैं। उधर से प्रभु रमण देव भी अपने आनन्द की लहरों का अनुभव करते हुए अपने भक्तों को भी दृष्टि दीक्षा करते जाते हैं। मैं भी इसी हाल में बैठ जाता



था। इधर से कभी कभी बन्दर आश्रमवासी तथा गिलहरियाँ भी यदा कदा भगवान की गोद में चले जाते हैं और भगवान महर्षि उनको मिठाइयाँ खिलाते हैं अपने हाथों से। मौन रूपता में ही प्रभु उन्हें प्यार करते हैं और अशीर्वाद देते हैं। एक संन्यासी भक्त आश्रमवासियों के साथ कभी भी बोलता नहीं। वह संन्यासी समस्त आश्रम की चिट्ठियाँ एकत्रित करके, रमण भगवान के समीप जाकर उनके सामने वे सारी रखता है और भगवान उन समस्त चिट्ठियों को मौन रूप में ही पढ़ते हैं और वह संन्यासी उन सभी चिट्ठियों का उत्तर, जो कि उस ने पहले ही लिखकर तैयार किया होता है, मौन तोड़कर, भगवान को दण्डवत प्रणाम करके, मौनव्रत किये हुए अपना कार्य करता है। ४ बजे दिन में भगवान उठ जाते हैं। एक सन्यासी उनके पीछे चलता है कमण्डलु लेकर प्रथम में भगवान अपनी अभीष्ठ गौ (लक्ष्मी नाम वाली) के पास जाकर उस गाय को अपने हाथों से मिठाइयाँ खिलाते हैं। स्मरण रहे कि यह गाय महाराज जी भगवान के जन्म दिवस पर ही प्रति साल सूती है। तत्पश्चात् भगवान अरूणाचल पर्वत पर सैर करने जाते हैं। मैं भी उनके साथ वहाँ जाता था। वहाँ वह एक शिला पर बैठ जाते थे और मैं उनके चरणों के समीप बैठ जाता था। वहाँ से लौटकर वे फिर अपने आनन्दप्रद हाल में प्रवेश करके अपने आसन पर बैठ जाते हैं। ततः धीरे धीरे सारे शिष्य अपने अपने आसनों पर बैठ कर अभ्यास में तल्लीन हो जाते हैं। इसी प्रकार शाम के आठ बजे तक निरन्तर अभ्यास होता रहता है। आठ बजे भगवान उठ जाते हैं और उनके पीछे पीछे सारे शिष्य उठते हैं और भोजनालय में चले जाते हैं। वहां भोजन करके समस्त भक्तजनों के सहित हाल में लौटते हैं और अभ्यास में तल्लीन हो जाते हैं। यह अभ्यास साढे दस बजे रात तक होता है। तत्पश्चात् सारे भक्त अपने अपने स्थान को चले जाते हैं जो कि उसी आश्रम में बने हुए हैं परन्तु किसी देवी को उस आश्रम में रहने नहीं देते, अतः समस्त देवियाँ अपने घर चली जाती हैं और भगवान हाल में अकेले रहते हैं केवल एक सन्यासी भक्त उनके चरणों

को मौन रूपता में ही दबाते जाता है। रात के दो बजे तक यह हमारे तप-ऋषि श्री भगवान रमणजी की दिनचर्या है।

स्थूलं सूक्ष्मं कारणञ्च तथा शून्यशरीरकम्।
एतद्देहचतुष्कंस्यादचलानां चतुष्ककम्।।
उपरिष्टाच्चतुष्केभ्योऽरुणनामा महाचलः।
परप्रमातृरूपोऽसौ गीयतेऽनुत्तरात्मकम्।।
सर्वोत्तमतमेयोऽरुणाचल संज्ञके।
स्वरूपेऽन्तो रमति तं रमन्तं रमणंनुमः।।

• • •

महेश्वरे वा जगतामधीश्वरे
जनार्दने वा जगदन्तरात्मनि।
न कोऽपि भेद प्रतिपत्तिरस्ति मे
तथाऽपि भक्तिस्तरुणेन्दुशेखरे।।
(स्तुति कुसुमांजलिः)

• • •

मृज्जलादिविशुद्धोऽपि न पवित्रो बहिर्मुखः।
बहिर्निर्मलमध्यस्थ पुरीषकलशादिवत्।।

• • •



भगवते रमणाय ओं नमः-

स्वामी लक्ष्मण जू महाराज

शिवभक्त्यमृतास्वादात्तृणीकृतरसान्तरः।
राजानकलक्ष्मणाभिख्यः सुधीर्नारायणात्मजः।।१।।
काश्मीरदेशवास्तव्यः शिवशक्तिप्रचोदितः।
महर्षेः रमणस्यनु करोति भक्तितः स्तुतिं।।२।।
मौनेन मन्दस्मितभूषितेन,
सद्भक्तलोकस्य तमो नुदन्तम्।
अपारकारूण्यसुधातरंगै
रपांगपातैरवलोकयन्तम्।।३।।
अद्राक्षमक्षीणदयानिधानं
यत्क्षेत्रभागे रमणं महेश्वरम्!
उपासकानां यदुपासनीय-
मरुणाचलं तं शिरसा प्रणौमि।।४।।
तस्मै नमोऽस्तु सततमरुणाचलाय ते
त्वत्क्षेत्रमङ्गीकृतमादृतञ्च यत्।
विद्राविताशेषतमोगणेन
दयालुना श्रीरमणेन योगिना।।५।।
ज्ञानालयं भगवतो रमणस्य तस्य
योगालयं यद्भवनं सुखस्य।
अभ्यासयोगेन सुशोभितञ्च यत्
महालयं तं शिरसा प्रणौमि।।६।।



नानावस्त्रैः शोभितं सुन्दरं च

तथा दिव्यैः योगमयैः स्फूर्त्तिभिः।

महापवित्रं तमयोगनाशनं

पीठं परं श्रीरमणस्य वन्दे।। ७ ।।

अलौकिकां कामपि दृष्टिदीक्षां

धृत्वा हरत्येव घनान्धकारम्।

दयानिधानं जगतां महेश्वरं

तं श्रीमहर्षिं रमणं नमामि।। ८ ।।

श्रीरमन्महर्षिं रमणं वदामि

श्रीमन्महर्षिं रमणं स्मरामि।

श्रीमन्महर्षिं रमणं नमामि

श्रीमन्महर्षिं रमणं व्रजामि।। ९ ।।

ज्येष्ठमासेऽसिते पक्षे नवम्यां गुरुवासरे।

मातृभूतेश्वरस्य यो महापूजां करिष्यति।।१०।।

शिष्यवर्गै र्भावयुतै रमणस्य महाश्रमे।

तन्निमिता लक्ष्मणेन कृतेयं रमणस्तुतिः।।११।।

• • •







शरिकादेवी जी



शारिकादेवीं प्रति श्रद्धाञ्जलि :

रचयिता – डा० बदरीनाथ कल्ला,
पूर्व संस्कृत प्राध्यापक, कश्मीर विश्वविद्यालय, श्रीनगर
तथा पूर्व संपादक, कश्मीरी शब्दकोशविभाग, जम्मू व कश्मीर
कल्चरल अकादेमी, श्रीनगर।

१. श्रीलक्ष्मणप्रियाशिष्या 'शारिका' नाम विश्रुता।
शैवशास्त्रविशिष्टा सा अकाले त्रिदिवं गता।।

२. 'ईश्वराश्रम' क्षेत्रस्था सर्वलक्षणसंयुता।
अद्वैतमार्गलग्ना सा अकाले त्रिदिवं गता।।

३. स्वधर्मनिरता देवी शाक्तधर्मप्रचारिणी।
सत्ज्ञानदायिनी देवी अकाले त्रिदिवं गता।।

४. दिव्यगुणयुता नार्यः न गणयन्ति स्वसुखम्।
ज्ञानामृतरसवाक्यैः हरन्ति प्रसभं मनः।।

५. स्मरन्ति तद्‌गुणान् सर्वे राष्ट्रधर्मस्य प्रेरकान्।
आश्रमस्यप्रिया भक्ताः शैवधर्मानुयायिनः।।

६. तत्स्मृतौ दीयते ऽत्र श्रद्धाञ्जलिः पुनः पुनः।
शैवाश्रमस्य भक्तैर्हि शारिका शुकभाषिण्यै।।

रचनाकार ने :–

शारिकास्वरूपा श्री शारिकाजी के अन्तर्धान दिवस पर यह संस्कृत कविता पढ़कर जम्मू में ईश्वर स्वरूप श्री लक्ष्मण जी को समर्पित की थी।

कल्लटवंशजः–बी.एन. कल्ला
मूलनिवासः– गणपतिविहार, (गणपतयार)
श्रीनगर, कश्मीर



शारिका देवी को श्रद्धाञ्जलि

डा० बदरीनाथ कल्ला,

शारिका दीवी जयजयकार, शारिका दीवी जयजयकार।
'इशबरि' य्वस आऽस वासकरान ईश्वर स्वरूपुन ध्यान धरान।
जिन्दगी हुन्द ओसुस यिहुय सार।।

शारिका दीवी..............

ज्ञानुक सऽदरा येम्य न्युव च्यथ, अद्वैतवादच रऽटनय वथ।
च़रणन तसन्द्यन नमस्कार।।

शारिका दीवी..............

स्वख संपदायि येम्य दिच़नय लथ, ईश्वर ज्ञानुक चोन अमर्यथ।
पज़िवति आऽखर लोग सऽय तार।।

शारिका दीवी..............

काम क्रोध लूभ मोह येलि तऽम्य त्रोव, तत्क्षण म्वख्ती धाम तऽम्य प्रोव।
तसंज़ भख्ती आऽस साकार।।

शारिका दीवी..............

ल्यम्बि मंज़ पंपोश कोताह छु जान पाऽनिस मंज़ आऽसिथ ति प्रज़लान।
येती तऽम्य प्रोव मवख्ती दार।।

शारिका दीवी..............

पानो वुथ वुन्य करतो ध्यान, प्रज़नावुन छुय पनुनुय पान।
वीदन त शास्त्रन हुंद छुय यि सार।।

शारिका दीवी..............

ईश्वर स्वरूपुन उपदीश बोज़ख, भव सागरस त्यलि क्याज़ि खोच़ख।
सुय छय असली अमृतधार।।

शारिका दीवी..............

शारिका आऽसय शारिकारूप, होवनय आऽखर असली रूप।
संतोष अमरयतुक कुरुन आहार।।

शारिका दीवी...............

युन गछुन ज़ीवस छुय चलवुन, असल म्वख्ती छय पूर, म्वकलुन ।
साधन त संतन हुंद छुय व्यचार।।

शारिका दीवी...............

शारिका सारिनय अनुग्रह करान, पादि कमल युस तसुंद्य स्वरान।
जीवो बऽल्य छुय अहंकार।।

शारिका दीवी...............

शारदा पीठच्य क्वंग तिहिज्य वाऽणी काऽच़ाह आऽसस शिहिज्य।
बूज़्यतन सोनुय अज़ नमस्कार।।

शारिका दीवी...............



जरा दर्शित पन्थानं
प्रचण्ड व्याधि सैनिकम्।
मृत्युशत्रुमधिष्ठोऽसि
त्रातारं किं न पश्यसि।।



सहज स्वरूप

हमारी प्रेरणा स्तोत्र - पूज्य देवी प्रभा जी



हमारे सर्वस्व गुरुवर्य

पू॰ प्रभादेवी जी निशात, श्री-नगर

जीवन नौका के कर्णधार मूर्तिमान साक्षात् शिव—स्वरूप अपने गुरुमहाराज के विषय में किसी भी प्रकार का परिचय देना परावाणी को वैखरी में लाने के समान हो जाता है। सभी के हृत्—गुहाओं में अन्तरात्मा के साथ एकमेक बने हुए महाराज जी के आद्योपान्त जीवन-लीलाओं का जो आनन्दातिरेक स्मृति—पटल पर अंकित है, उन्हे वैखरी में लाने से यद्यपि उन स्वर्ण-स्मृतियों का मूल्य तनिक कम हो जाता है, किन्तु मर्यादा तथा स्मृति को सुरक्षित रखने के लिए ऐसा करना वांछनीय बन जाता है।

आज से कई वर्ष पूर्व हमने "श्री ईश्वर-स्वरूप जी महाराज" इस नाम से महाराज जी के जीवनकाल ही में, उनके पुण्य जीवन से संबन्धित जीवनी का परिचय एक छोटी सी पुस्तिका में दिया था। उस पुस्तिका का आदर जनता ने पूर्ण रूप से किया। यहाँ तो हम महाराज जी के दैनिक कार्यक्रम तथा स्वभाव का तनिक परिचय देगें।

महाराज जी का शरीर सुडौल, मुख सूर्यवत्, तेजस्वी, नेत्र-आयत-नेत्र कमल की भांति प्रफुल्लित, ओजपूर्ण माथा, जिस पर चंद्रकला की प्रतिछाया धुंधले रूप में प्रवरभक्तों को दिखाई देती थी। केशों से युक्त सिर के मध्य में शोभायमान शिखा, गले में छः लड़ों वाला यज्ञोपवीत, कान न अधिक छोटे न बड़े, दाडिम की भाँति चमकती हुई दन्त पक्तियाँ, आजानु बाहु, चरण उद्धार करने के हेतु बड़े बड़े, सुन्दर गठन से युक्त तथा उंगलियों की रचना अपनापन लिए थी।

किशोर अवस्था में महाराज जी की वेषभूषा कुर्ता पायजमा ही था। यौवनकाल में आकर उन्होंने आजन्म लम्बा सा चोला, जिसे कश्मीरी में ''फिरन'' कहते हैं वही पहना। जब प्रसन्न होते तो शिष्य अपना हृदय खोल कर रखने

में विवश था। कोई भी बात छिपा नहीं पाता था। ऐसा आभास होता था-साक्षात् शंकर सम्मुख विराजमान हैं, इन से छिपाये तो क्या छिपायें ? इसके उलट जब महाराज जी रोषपूर्ण दिखाई देते थे तो शिष्य के होश उड़ जाते थे। ऐसा प्रतीत होता था कि अभी भगवान शंकर का भयंकर रूप धारण करके महाराज जी हमें समाप्त ही कर देगें। उस समय महाराज जी के सम्मुख एक क्षण के लिए भी बैठना असह्य हो जाता था। महाराज जी की वह भयंकर गर्जन अलौकिक होती थी। उस ताड़ना में भी सदा कल्याण की भावना बनी रहती थी। उत्पलदेव जी के शब्दों में "शीतलाय शिवाग्नये" वाली बात होती थी। महाराज जी के उस भयंकर क्रोध रूपी अग्नि में अपनत्व रूपी शीतलता की चिंगारियां चारों ओर से चटचटाती रहती थीं। उन्हींके कारण शिष्य फिर से उनके पतित-पावन-चरणों को बार बार पकड़ता था, चूमता था और दंडवत प्रणाम करता था। इतना था महाराज जी की रोषपूर्ण वाणी का भी आकर्षण !

यह तो रही क्रोध की बात, जब महाराज जी अपने आवेश में आकर शैवी ग्रन्थों की व्याख्या करने लग जाते तो वे न जाने कहां परा के प्रांगण में विचरते हुए निर्विकल्प दशा का स्वयं तो अनुभव करते ही थे, साथ ही शिष्य तथा श्रोतागणों को भी उसी निर्विकल्प के प्रांगण में विचरण कराते थे। उनकी वाणी कुछ अपनापन लिये होती थी। श्लोकों के पढ़ने का अपना ही निराला ढंग था। शिष्य वर्ग उस वाणी का रसास्वादन करते हुए मंत्र मुग्ध की भाँति स्थगित से हो जाते थे। महाराज जी की व्याख्यान करने की शैली भी अपूर्व थी। वे शब्दों का अर्थ नपे तुले शब्दों में करते थे। उन्होंने अपनी विद्वत्ता का परिचय तो देना होता नहीं था, केवल लक्ष्य यही था कि शिष्य के हृदय-पटल पर सरल तथा सहज रूप से अर्थ जम जाये। अपने अनुभव के आधार पर वे अर्थ को समझाने का प्रयास करते थे, फिर भले ही किसी के पल्ले कुछ पड़े या न पड़े, इसकी महाराज जी को कोई चिन्ता न होती थी। तुलसीदास जी के शब्दों में महाराज जी ''स्वान्तः सुखाय'' ही व्याख्यान आदि करने का बीड़ा वहन करते थे।



अपने जीवन काल में वे मौनव्रत रखने के बड़े शौकीन थे। पहिले-पहिले तो, वे तीन चार मास का भी मौन रखते रहे हैं। इस अवधि में महाराज जी की सेवा केवल मात्र शारिका देवी जी ही करती थीं। समयानुकूल आहार का स्वास्थ्यानुसार बनाने, सामने रखने का सभी कार्य देवी जी पर ही निर्भर होता था। एक बार स्वामी जी महाराज ने अपने शहर के मकान में तीन मास का मौन व्रत रखा। सर्दियों के दिन थे। पौष मास का महीना था। भयंकर हिम पात हो रहा था। देवी जी प्रति आठ दिन के बाद अपने पूर्व आश्रम से, जो ईश्वर पर्वत के दामन में बना था, वहां से दो सेवकों के साथ स्वयं दूध, दही, मक्खन तथा सब्ज़ी आदि को, गिरती बर्फ में पाँच मील चल कर ले जाया करती थीं। स्वामी जी के वहाँ सभी सुविधायें, खाने पीने की करवा के फिर उसी कड़कती सर्दी व हिम में अपने आश्रम शाम के छः बजे तक पहुँच जाती थीं। यह थी देवी जी की कठोर तपस्या अपने श्रद्धेय गुरुदेव के प्रति।

मैंने एक बार किसी श्लोक में पढ़ा था "पृष्ठतः सेवयेत् अर्कम्" सूर्य की सेवा पीठ से करनी चाहिये। स्वामी जी महाराज मुझे तथा देवी जी को तन्त्रालोक पढ़ाने लगे, तो मैं स्वामी जी की ओर पीठ करके बैठ गई। ईश्वर स्वरूप जी ने झिड़क कर कहा कि क्या हो रहा है ? मेरी ओर पीठ क्यों की है ? मैंने पीठ उस ओर रखते हुए कहा, ''महाराज आप तो सूर्य है। मैं आप के सम्मुख मुंह कैसे रख पाँवूगी।'' इस पर स्वामी जी ने हँसते हुए कहा, ''हम ब्राह्मण तो हैं ही, गुरु भी हैं, अतः हम अग्नि का रूप हैं। अग्नि के सामने हाथ जोड़कर श्रद्धा पूर्वक बैठना चाहिए। सूर्य प्रमाण है। अग्नि प्रमाता है। यह स्वयं भी जलता है और दूसरों को भी जलाता है। पवित्र भी करता है।'' इस उपदेश से मैं सचेत हो गई। मैंने यह बात गाँठ बाँध ली।

दूसरी बार महाराज जी अंगनाई में अति आनन्द में बैठे थे। मैं तथा पूजनीय शारिका देवी जी भी सामने चटाई पर बैठ गये। मैं एकदम कह बैठी, ''महाराज



जी,हमारी भाषा में तो महात्मा, संत, ईश्वर भक्त आदि शब्द तो बहुत अर्थ रखते हैं, किन्तु उर्दू भाषा में ''फकीर'' का क्या सार्थक अर्थ हो सकता है। यह शब्द तो अर्थहीन निरर्थक सा प्रतीत होता है।'' सुनते ही महाराज जी कह बैठे, ''सुनो, 'फ'-वर्ण फ़ना का सूचक है जो प्रभु के नाम के लिए फना यानी न्यौछावर हो जाये। 'कै' वर्ण कनाथ अर्थात् सभी पहरने तथा खाने में संतोष करे और तीसरा वर्ण 'र' है, जो रियाज़त करने का संकेत करता है। अब जो साधक प्रभु के नाम पर न्यौछवर हो, जो रूखी सूखी खा कर संतुष्ट रहे तथा, जो अहर्निश प्रभु की आराधना करता रहे वह फकीर कहलाता है। इतना सारगर्भित है, यह शब्द।'' महाराज जी के मुख से इतना गंभीर अर्थ सुनकर मैं एकदम चुप हो गई।

महाराज जी ने अपने युवाकाल में अनेकों शिष्यों को अभ्यास का मर्म सिखाया। उन्हें यथोचित रूप से आणवोपाय में जुटा दिया। शिष्य की योग्यता के अनुसार, उन्हें जप, अध्ययन, मंत्र पाठ, स्तोत्र पाठ, सोऽहम् अभ्यास से दीक्षित किया। इतना ही नहीं, लगभग बीस वर्ष वे अपने शैवी ग्रन्थों की सरस व्याख्या कश्मीरी भाषा में व्याख्यानों के रूप में करते रहे। आंगल भाषा में पाश्चात्य् देशवासियों के हितार्थ, उत्पलस्तोत्रावली का उल्था कैसटों में कर दिया। शिव सूत्र का आंगल भाषा में उल्था करके रख दिया। हिन्दी प्रेमियों के लिए श्री उत्पलस्तोत्रावली, पंचस्तवी, साम्बपंचाशिका, क्रम-नय-प्रदीपिका का सरल हिन्दी में अनुवाद कर दिया। इनके अतिरिक्त एक स्वतन्त्र ग्रन्थत्रिक शास्त्र रहस्य प्रक्रिया की सारगर्भित रचना की। त्रिक शास्त्र का अभिनव जी द्वारा रचित तन्त्रालोक के पहले आह्निक के ४५ श्लोकों का सुन्दर हिन्दी अनुवाद, पाद टिप्पणियों सहित करके रख दिया। महाराज जी की आन्तरिक प्रबल इच्छा थी कि तन्त्रालोक का सम्पूर्ण हिन्दी अनुवाद करें। आश्रम की कई समस्याओं के कारण वे इस साध को पूरा न कर पाये। ट्रस्ट वालों ने, इस तन्त्रालोक की पुस्तिका को महाराज जी की लेखनी के रूप में ही छपा कर, भक्तों की पिपासा को शान्त करने का प्रयास किया है।



इस भाँति महाराज जी ने जीवनोपरान्त, त्रिक शास्त्र के प्रेमियों के लिए अपना हर प्रकार से योग दान दिया है। हम उनके उपकारों को भला कहाँ तक याद कर सकते हैं। जब से संसार में जन्म लिया, तब से गुरुवर्य के सम्मुख ही बालक अवस्था, किशोरावस्था, यौवनावस्था और फिर वार्द्धक्य अवस्था के कुछ वर्ष भी बिताये। उनकी स्वर्णमयी, आनन्द से भरी हुई गोद में उछलते कूदते हुए ही जीवन व्यतीत हो गया। मालूम नहीं पड़ा इतने वर्ष कैसे हँसते खेलते बीत गये। सच मानिये साक्षात् शंकर महादेव के साथ उठना बैठना रहा है। विश्वास नहीं आता, क्या वह सचमुच हमारे नेत्रों से ओझल हो गये हैं । विश्वास भी कैसे आये, संपूर्ण जीवन ही उनके साथ रह कर व्यतीत हो गया। अभी भी वे सदा पास ही रह रहे हैं ! स्थूल रूप से नहीं, सूक्ष्म रूप से। प्राणों के प्रत्येक उतार चढ़ाव में, हृदय की कंपन में, नेत्रों के प्रकाश में, मस्तिष्क की स्मृति में, बुद्धि के विकास में, प्रकाश की झलक में, सूर्य की उष्णता में, चांद की चाँदनी में, चारों ओर महाराज जी ही तो व्यापक रूप से अवस्थित हैं। फिर मूर्ख मन ! क्यों अधीर हो रहा है? प्रभु की प्रभुता गुरुदेव का ही तो साक्षात् रूप है। अहर्निश अपने हृदय की स्फूर्ति में उन्हें निहारते रहो। गुरुवर्य श्री ईश्वर स्वरूप जी कहीं नहीं गये हैं ! अपने पास ही तो हैं।

• • •

देवं दिनेशाग्नि शशाङ्कनेत्रम्
पीयूष पात्रं कलशं दधानम्।
दीर्घ्यां सुधांशुद्युतिमिन्दुचूडं
नमामि मृत्युञ्जयमादिदेवम्।।



भजन

नटवर नागर नन्दा भजो रे मन गोविन्दा।
नटवर नागर नन्दा भजो रे मन गोविन्दा।।

तू ही नटवर तू ही नागर तू ही बालमुकुन्दा।
भजो रे मन गोविन्दा, नटवर नागर नन्दा.......।।

सब देवन में श्रीकृष्ण बड़े है, ज्यों तारन में चन्दा।
भजो रे मन गोविन्दा, नटवर नागर नन्दा.......।।

सब सखियन में श्रीराधा बड़ी है, ज्यों नदियन में गंगा।
भजो रे मन गोविन्दा, नटवर नागर नन्दा.......।।

ध्रुव तारे प्रहलाद उबारे नरसिंह रूप धरन्दा।
भजो रे मन गोविन्दा, नटवर नागर नन्दा.......।।

वंशीवट में रास रचायो, नाचत बालमुकुन्दा।
भजो रे मन गोविन्दा, नटवर नागर नन्दा.......।।

मीरा के प्रभु गिरधर नागर, काटो जम के फंदा ।
भजो रे मन गोविन्दा, नटवर नागर नन्दा.......।।



उठो, जागो, अपने स्वरूप को पहचानो।

विस्मयी-योग-भूमिका



जय गुरुदेव।

ओ३म् गुरवे नमः

दीनानाथ जी गंजू
ईश्वर नगर, नई दिल्ली

दीनोद्धारैककृत्याय करुणागाधसिन्धवे।
अनेकश्रीलसत्काय लक्ष्मणाय नमोनमः।।

१९२६ ई० श्रावण मास की बात है—मैं श्रीनगर में गवर्नम्येंट हाईस्कूल में नवमी श्रेणी में पढ़ता था। मेरे सहपाठी मित्र पंडित काशीनाथ जी रैणा ने, शनिवार के दिन कहा, चलो आज स्वामी महताबकाक जी मंगल भैरव के तीर्थस्थान में पधारे हैं, हम दोनों भी वहाँ जाकर उनसे नैवेद्य ग्रहण करेंगे। हम दोनों स्टेट हाई स्कूल के पुस्तकालय वाले किवाड़ के बाहर पहुँचे, अकस्मात् नारायण जू वाले नाले से एक किश्ती निकलती दिखाई दी, जिसको एक बीस वर्षीय तेजस्वी कश्मीरी पंडित युवक चला रहे थे। इस किश्ती में बहुत सामान भी था। किश्ती चलाने वाले युवक जी, पंडित काशीनाथ को जानते थे। युवक ने किश्ती में से पुकारा, ''क्या मंगल राज तीर्थ में जाना चाहते हो।'' हमारे ''हां'' कहने पर युवक जी ने किश्ती हमारे निकट लाई और हम दोनों को भी किश्ती में बिठा कर तीर्थ स्थान में ले गये। वहां स्वामी महताबकाक जी आसन पर विराजमान थे। हम दोनों भी स्वामी जी को प्रणाम करके उनके भक्तों में बैठकर भजन सुनते और साथ साथ भजन करते रहे। चाय भी पी और समय आने पर 'चर्वन' पीले चावलों के साथ नैवेद्य भी किया। नैवेद्य, चाय आदि हम को नौका में चलाने वाले युवक ही दिलवा रहे थे। मुझे मेरे मित्र ने कान में कहा कि यह युवक ही पंडित नारायण जू के पुत्ररत्न, साधु स्वभाव वाले हैं। यह भगवान् ईश्वर स्वरूप जी का मुझ को प्रथम दर्शन था।

स्वामी ईश्वर स्वरूप जी महाराज का दूसरा दर्शन मुझ को, स्वामी महताबकाक जी, जो ईश्वर स्वरूप जी के गुरुवर्य थे, उनके देहान्त के दिन हुआ। उनकी अर्थी के आगे आगे दो तेजस्वी महात्मा स्वामी ईश्वर स्वरूप जी महाराज और स्वामी विद्याधर जी जा रहे थे। उस दिन भगवान ईश्वर स्वरूप जी का तेज सूर्य के समान चमक रहा था।

सन् १६३३ ई० में, मैं नौकरी में नियुक्त हो गया था। पंडित रघुनाथ जी कुकिलू के पास पंचस्तवी का अर्थ पढ़ता था। एक दिन पं॰ आनन्दकौल जी महाराज, जो महामना राम जी के सत् शिष्यों में से एक थे। उन्होंने मुझे नदी के घाट पर पंचस्तवी के श्लोक ज़ोर से पढ़ते सुना। अकस्मात् मैं उस समय पहले स्तोत्र का यह श्लोक "ये सिन्दूर पराग" पढ़ रहा था। पं॰ आनन्द कौल जी को सन्देह हुआ कि यह २१ वर्षीय युवक इस श्लोक को किसी उलटे अभिप्राय से तो नहीं पढ़ रहा है। वह मेरे पिता जी के पास आये। पिता जी से अपना सन्देह प्रकट किया। पिता जी बोले दीनानाथ से ही पूछ लो। मुझ को बुलाया और पंचस्तवी के एक श्लोक में "शावक कुरङ्ग" का अर्थ पूछा। मैंने उत्तर दिया इस शब्द का तात्विक अर्थ अष्टसिद्धियों का संकेत करता है। पं॰ आनन्दकौल जी ने यह उत्तर सुनते ही मुझे गले लगा लिया और शीघ्रता से घर जाकर, वहाँ से श्री भगवान् ईश्वर स्वरूप के हस्त लिखित "द्वादशकालि" श्लोकों की प्रति लाकर मुझे दे दी। पढ़ाया और कहा – ''यह स्वामी जी के शुभ हस्त कमलों का प्रसाद है। तुम इसे नित्य पाठ के रूप में पढ़ा करो। तुम्हारा शुभ होगा।'' मैनें पाठ शुरू किया। पाठ करते समय मुझे स्वतः स्वामी जी का ध्यान आता था। मैं नौकरी में उन्नति करता गया। १६४२ से ही सब डिविजन का चार्ज मिलना शुरू हुआ। १६४५ में बहुत लोगों को सरपास करके अफसर बना।

१६४६ ई० में स्वामी जी महाराज इलाहाबाद के कुम्भ मेले से वापसी पर "स्टेंडर्ड होटल" में, अपने छोटे भाई भगवान दास जी के पास जम्मू में ठहरे



थे। एक दिन मेरे मित्र पं॰ सर्वानन्द जी काचरू, जो मेरे मकान के एक भाग में रहते थे, प्रातः होते ही तैयार हो कर कहीं जाने लगे। मेरे अनुरोध पर उन्होंने कहा कि मैं स्वामी लक्ष्मण जी के पास जा रहा हूँ। मैंने कहा, ''मुझे भी किसी दिन उनके दर्शन कराइये। तभी आपकी मित्रता सफल होगी।'' उन्होंने कहा कि- ''अवश्य कराऊँगा, समय आने पर।'' प्रभु की लीला तो अपरम्पार है। उसी दिन एक बजे दिन के, दफ्तर से आकर खाना खाने बैठा था कि अचानक स्वामी जी उसी कमरे में आकर कुर्सी पर बैठ गये। मैं उठा आसन लगाया और स्वामी जी को विधिपूर्वक उस पर बिठाया। प्रणाम किया और फिर बोला, ''हे भगवान! मैं माँसाहारी हूँ। इस समय भी भोजन माँस युक्त ही है। आप साक्षात् भगवान् हैं। क्या मैं यह भोजन आपके सम्मूख खाँऊ कि फेंक दूँ।'' भगवान् ईश्वर स्वरूप जी की बढ़ाई देखिये मुझे अपने सम्मुख वह माँसाहारी भोजन खाने की आज्ञा दे दी। मैंने जल्दी जल्दी खाना खाया और हाथ भली भाँति धोए संतरे दो तीन निकाले और उन्हें पवित्र रूप से खोल कर स्वामी जी के सम्मुख रखे। भगवान ने एक दो फाँके, मेरे बार-बार प्रार्थना करने पर खाईं और मुझे कहा कि, ''शेष फाँके सभी को प्रशाद के रूप में बाँटो।'' इतना कह कर वे चल दिये।

मैंने दुर्गा सप्तशती का पाठ १६४४ में आरम्भ किया था। १६५३ में, मैं अनन्तनाग में पुल बनवाने पर नियुक्त किया गया था। नवमी के दिनों में पाठ आरम्भ करने पर ही मैंने प्रयोग में भगवती दुर्गा से "गुरु प्राप्तत्यर्थम्" फल मांगा था। पंचमी याने पाठ के मध्य में मुझे पाठ करते करते भगवती की प्रेरणा हुई कि मैं स्वामी लक्ष्मण जी के पास जाऊँ। नवमी के दिन पाठ समाप्ति पर जब मैंने पुनः पीले चावलों के साथ मांसभक्षण किया तो वह अन्न मैं पचा न सका, एकदम उल्टी आ गई और मैं स्वयं समझ न सका ऐसा क्यों हुआ। दूसरे दिन एकादशी का व्रत था। त्रयोदशी को मैं अनन्तनाग से भगवान ईश्वर स्वरूप जी की शरण जाने के हेतु श्रीनगर आया। लालचौक़ के मायसूमा बाज़ार में एक

दुकान पर सामान रख कर, पिताजी को संदेशा देने गया कि मैं घर नहीं आऊगाँ। जब मैं वहाँ से लौटा तो जिस दुकान पर मैंने अपना सामान रखा था उसी दुकान पर भगवान् ईश्वर स्वरूप जी को विराजमान देख कर, मैं विस्मित हो गया। स्वामी जी को प्रणाम किया। उन्होंने कहा, ''मुझे आभास सा हुआ कि आप अनन्तनाग से हमारे पास, आश्रम जाने के लिए ही आये हो।'' मेरे ''हाँ'' कहने पर हम दोनों तांगे अड्डे पर चल दिये। मार्ग में स्वामी जी ने कहा, ''मुझे मायसोमा बाज़ार में कोई काम न था। मैं न मालूम क्यों उस दुकान के पास ठहरा और दुकान वाले ने मुझे शायद आपसे मिलने के लिए ही रोका।'' मैं समझ गया कि भगवान् केवल मुझ पर कृपा करने के लिए ही वहाँ आए थे। ईश्वर आश्रम में जब हम पहुँचे तो पूरा स्वर्गाश्रम था। चाय आदि पीने के बाद स्वामी जी ने मुझे अपने सामने प्रेम पूर्वक बिठाया और पूछा-आप किस अभिप्राय से मेरे पास आये हैं? मैंने उत्तर में कहा, ''महाराज! मैं अति दुष्ट व्यक्ति हूँ। कभी-कभी युवतियों के आगे-पीछे भी फिरता रहता हूँ। नौकरी में रिश्वत लेकर चोरी का पाप भी करता हूँ। ताश भी जुए के रूप में खेला करता हूँ। मुझ दुष्ट को भगवती चण्डी ने आज्ञा दी है कि मैं आपकी शरण में रहूँ तभी मेरा उद्धार होगा।'' स्वामी जी ने उत्तर दिया, ''तुम्हारा कल्याण अवश्य होगा किन्तु एक शरत है, तुम मांस खाना छोड़ दो।'' मैंने सोचा यही मेरी प्रथम परीक्षा है। मैंने उत्तर में कह दिया ''महाराज मैं इसी क्षण, आपके सम्मुख प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं जन्मभर नहीं खाऊँगा।'' स्वामी जी ने कहा कि ''क्या तुम्हारा दिल तो नहीं कभी ललचेगा।'' मैंने उत्तर में कहा, ''इसके लिए आप का आशीर्वाद पर्याप्त है।'' स्वामी जी एकदम कह बैठे, ''मैंने हृदय से आशीर्वाद दे दिया।'' इसके बाद महाराज ने मुझे नित्य नियम के विषय में पूछा। मैंने कहा, ''महाराज मैं स्नान संध्या आदि करके दो गायत्री की मालायें जपता हूँ। पंचस्तवी के प्रथम स्तव का पाठ तथा रुद्रमन्त्र चमानवाक का पाठ करता हूँ और नव रात्रों में दुर्गा सप्तशती का पाठ करता हूँ। यह सब मैंने पं॰ रघुनाथ जी कुकिलू से पढ़ा है।'' फिर यह सुन कर स्वामी



जी महाराज ने मुझे पंचस्तवी के पहिले स्तव का पाठ सुनाने को कहा। मैंने जब सुनाया तो अति प्रसन्न हो गये। साथ में कहा कि, ''इस पाठ के बाद ''बहुरूपगर्भ'' का पाठ भी ध्यानपूर्वक करना चाहिये। अभी कुछ समय के लिए इसी भांति करते रहो। आगे जाकर हम तुम को राज योग का मार्ग बता देगें।'' मैं चैत्र से आश्विन तक प्रतीक्षा करता रहा। एक दिन आश्रम में जाकर एक रात वहीं रहा इसी अभिप्राय से याचना करने पर भी टालते गये। मैं घर लौटा तो आश्विन शुक्ल अष्टमी को मैंने क्षीर भवानी तीर्थ में हवन करने का संकल्प किया। स्वामी जी महाराज को उस में आने का निमन्त्रण दिया। भगवान् आशुतोष तो थे ही अतः वहां आना मान गये। सप्तमी के दिन, दो बजे, हम गावकदल से बस में क्षीर भवानी की ओर चले। हमारी बस की प्रथम सीट पर भगवान ईश्वर स्वरूप जी विराजमान थे। मेरी नवविवाहिता वधू दुलारी जी, महाराज के निकट सीट पर बैठी थी। उससे स्वामी जी महाराज एक वकील की भाँति धीरे-धीरे तफतीश सी करने लगे–उससे पूछा, ''दीनानाथ किस मात्रा में मांस का भक्षण करते है। दिन में कितनी बार खाते हैं।'' दुलारी जी ने कहा कि, ''वह महाराज मांस खाते ही नहीं है।'' संतोषजनक उत्तर मिलने पर वह प्रसन्नता पूर्वक क्षीर भवानी पहुँचे। वहाँ पूर्ण रात्रि में यज्ञ होता रहा। स्वामी जी महाराज मक्खनलाल कुकिलू की परीक्षा लेते रहे। प्रातःकाल मैंने मक्खनलाल जी से देवी का स्वाहकार करने के लिए कहा तो, भगवान स्वयं यज्ञ में सम्मिलित हुए और कहा कि ''यज्ञ श्रद्धा पूर्वक करना चाहिये।'' इसके पूरे एक महीने के बाद मैं आश्रम गया। तो भगवान ने सुनाया कि, ''मैंने तुम्हारी बहूरानी दुलारी जी से तुम्हारे शाकाहारी होने की पूर्ण तसल्ली की है। अब आपको मैं राजयोग का उपदेश दूँगा।'' दूसरे दिन प्रातः मुझे ''शरीरं हविः'' वाले कमरे में अपने साथ ले गये और वहाँ ''कालाध्वा'' प्राणापान का अभ्यास सिखा कर कृतकृत्य किया। उसके बाद जब भी मैं शनिवार को आश्रम जाता था, तो मुझे नव बजे से दस बजे



तक अपने सम्मुख बिठा कर, स्वयं भी अभ्यास में लीन होकर समाधि का रसास्वादन लेते। यह मुझ पर अपार कृपा थी। मैं इसी अभिप्राय से वहाँ फिर जाता रहा और स्वामी जी महाराज भी गुरू होने के नाते मुझे समय समय पर कृपा करते रहे। उनकी दयालुता का मैं कहाँ तक वर्णन करूँ ! न तो मेरी वाणी में उतनी शक्ति है और न ही लेखनी में उतना सामर्थ्य है लिखने का और न ही मेरे पास कागज़ लाने की ताकत है। अतः मैं मुख्य घटनाओं की ओर ही संकेत करके अपना लेख समाप्त करूँगा।

१९५७ ई० यानी ४५ वर्ष की आयु तक मैंने कभी कोई कविता न लिखी थी। श्री रामेश्वर झा लिखित गुरुपादुका स्तुति का पाठ करते करते मुझ से अकस्मात् कश्मीरी भाषा में ''सत्गुरू खावे पऽर्यलगऽह'' शब्द निकले। उस समय मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि गुरुमहाराज मुझे इस सम्पूर्ण स्तुति को कश्मीरी भाषा में काव्य के रूप में लिखने की आज्ञा दे रहे हैं। मैंने प्रयत्न किया, तो घण्टे भर में सम्पूर्ण स्तुति कश्मीरी काव्य में लिखी गई। श्री रामेश्वर जी झा के भावों के साथ ही मेरे अपने मौलिक भाव भी निकले। इस प्रकार सुन्दर भाव पूर्ण कविता का उद्गम हो गया। इसी रात्रि को मुझे देवी भगवती की ओर से प्ररेणा हुई कि तुम भगवान गणेश के विषय में आराधना के रूप में एक कविता लिखो। कुछ समय के बाद ही मैं आठ छन्दों में कश्मीरी भाषा में गणेश जी की स्तुति के रूप में एक कविता लिख बैठा। तब से मैने गुरुपादुका के सामने प्रण किया कि मैं परमार्थ से भिन्न, किसी विषय पर भी कविता की रचना नहीं करूँगा। फल यह हुआ कि मेरी कवित्वशक्ति दिन दिन बढ़ती गई। मैं जब भी गुरुदेव का भाषण या उपदेश सुनता तो उसे कश्मीरी भाषा में काव्यबद्ध करता था।

योगः कर्मसु कौशलम्।।

• • •



परम पूज्य श्री बालकृष्णदास जी महाराज



प्रीति भोजन, (वृन्दावन धाम)



।। श्री राधा ।।

" वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् "

ठाकुर श्री घनश्याम जी शर्मा, वेणु विनोद कुँज, वृन्दावन

आज के युग में ब्रह्मनिष्ठ महात्माओं का दर्शन दुर्लभ है। इसमें भी सगुण रूप को लेकर भगवद् दर्शन निष्ठ, समाधि निमग्न महात्मा का दर्शन मिलन तो अत्यन्त ही कठिन है। भगवान् शिव के अनन्य भक्त, साक्षात्कारी, समाधि में घन्टों घन्टों एक ही आसन में बैठे रह जाना, शैव सिद्धान्त के परम विद्वान श्री श्री १०८ श्री लक्ष्मण जू महाराज थे। इनके दर्शन मात्र से ही संतप्त हृदयों को परम शान्ति का अनुभव होता था। भव्य वपु, दीर्घ काय, विशाल नेत्र अरूणिमा से अनुंरजित, अजानुलम्बित बाहु कश्मीरी फिरन पहने ये महापुरुष हज़ारों में एक अलग ही चमकते थे।

प्रथम बार आपका दर्शन मुझे इसी प्रकार हुआ था। आप अपने शिष्य परिवार सहित श्री बरसाना धाम में पधारे थे। पूज्य श्री श्री महाराज जी भी वहीं पर विराजित थे। पूज्य श्री महाराज जी ने आज्ञा दी कि आप श्री स्वामी जी को यहीं नीचे ही मेरे पास बुलाकर ले आओ। मैं आज्ञा पाकर तुरन्त ऊपर गया। उस समय होली का उत्सव था। मन्दिर में अपार जन समुदाय था, मेरी आँखे चारों ओर दौड़ रही थीं।। बिना किसी परिचय के एकदम नवीन, मैं उन्हें कैसे पहचान पाऊँगा, थोड़ा सा तो विचार आया, पर तुरन्त ही उत्तर मिला मेरे मन ने मुझे कहा ''क्या महाराज छिपे रह सकते है ?'' ऐसा विचार आते ही देखता हूँ कि अनूठी वेश-भूषा, छके हुए नेत्रवाले एक महापुरूष सामने ही दीख रहे हैं। मैं शीघ्रता से भीड़ को चीरता हुआ उनके निकट पहुंचां। चरणों में अपना माथा रख कर बोला आपकी प्रतीक्षा पूज्य श्री महाराज जी नीचे कर रहे हैं; कृपया पधारें। मुझे देख कर पूज्य स्वामी जी कुछ विस्मित से होकर बोले, मेरे हाथ



को उन्होंने अपने हाथ में लेकर जो़र से पकड़ लिया और हृदय से लगाकर बोले-बोलने में आँखें भर आईं, कण्ठ गद् गद् हो गया, ''मुझे कैसे पहचाना कि मैं ही स्वामी जी हूँ।'' मैं इसका उत्तर क्या देता ! इतना ही बोल पाया, ''हजारों में आपका दर्शन अलग ही हो रहा है।'' आप प्रसन्नता पूर्वक मेरा हाथ पकड़े-पकड़े ही सीड़ियों से नीचे उतरे। बीच बीच में पूज्य श्री महाराज जी के विषय में भी पूछते जाते थे। बार बार रूमाल से नासिका का जल पौंछते जाते थे।

स्थान पर पहुँच कर दोनों महापुरुषों का मिलन अद्‌भुत, अति अद्‌भुत हुआ दोनों ही भाव विभोर थे। विशाल नेत्रों से अश्रु प्रवाहित हो रहे थे। कुछ समय पश्चात् प्रकृतिस्थ हुए, परस्पर चर्चा हुई। साथ के लोग एक दूसरे को समाचार दे रहे थे। इसी बीच श्री स्वामी जी ने श्री महाराज जी से कहा कि, ''आपके घनश्याम जी ने तो हमको कभी नहीं देखा फिर भी बिना पूछ-ताछ के ही हमें अपार भीड़ में पहचान कर आपकी सन्निधि का लाभ दिया है। मुझसे रीझ गये और फिर अपने सिर की मालिश कराई सेवा भी मुझे प्रदान कर दी। ऐसे महापुरुषों की चरणधूलि वन्दनीय है।

एक बार पूज्य श्री महाराज जी के साथ कश्मीर जाने का कार्यक्रम श्री स्वामी जी महाराज के विशेष आग्रह पर ही बना था। पूज्य श्री स्वामी जी महाराज का जन्म दिन था। बाहर से, व विदेश से भी लोग पहले से ही आये हुए थे। काफी लोगों की भीड़ थी। कमला जी की कोठी, जो स्वामी जी के निकट में ही है, पूज्य श्री महाराज जी के ठहरने की व्यवस्था की थी। प्रातः काल पूज्य श्री स्वामी जी समाधिस्थ थे। उन्हीं के सन्मुख मैदान में लोगों की भीड़ जमा थी। काफी जन समुदाय एकत्रित था। श्री शारिका जी ने सूचना भेजी कि श्री महाराज जी को लेकर आप आ सकते हैं। मैं व लाल जी पूज्य श्री महाराज जी को लेकर पहुँचे, यथा स्थान ग्रहण किया। मैं बिल्कुल निकट सन्मुख ही बैठा



था। अत्यन्त अद्‌भुत समाधि रूप के दर्शन कर, मन आनन्द से भर गया। कुछ देर पश्चात् जब, समाधि में कुछ शिथिलता सी मुझे भान हुई तब, मैंने उनके श्री अंगो में एवं श्री मुख पर इत्र अच्छी तरह से लगा दिया। मैं भी एक विचित्र ही भाव में बह रहा था। यह मेरी क्रिया किसी के भी अनुकूल नहीं थी। उनके शिष्यों ने मुझे ऐसा करने से रोका भी था। परन्तु मैं रूक नहीं सका, पीछे मुझे संकोच भी हुआ। मैं मन ही मन विचार कर रहा था कि अगर श्री स्वामी जी से किसी ने कहा भी, तो मैं क्षमा माँग लूँगा। पर जब यह प्रंसग पूज्य श्री स्वामी जी की समाधि पूर्ण रूप से खुली और वह सबसे बोलने लगे, सब की ओर देखने लगे, तो उनकी एक शिष्या बोली कि, ''आपको ठाकुरजी ने इत्र लगाया था।'' यह सुनकर उनके मुख पर एक विचित्र मुस्कराहट आयी, सजल नेत्रों से उन्होंने मेरी ओर देखा और गम्भीर वाणी में बोले-''वह सुख हमें तो नहीं मिला, आपको ही मिला। अब करिये तो मैं भी आनन्द लूँ।'' आपने पुनः वैसा ही करवाया। उस समय मुखाकृति मुस्कानयुक्त थी। उपस्थित सभी लोग अवाक् थे, कि इस प्रसंग से अप्रसन्न होने की जगह और प्रसन्न हो गये। मुझे अपने कर कमलों से ही प्रसाद दिया व आशीर्वाद देकर विदा किया। उन दिनों की स्मृति सुख प्रद है। ऐसे महापुरुष अब दृष्टि पथ में कहाँ ? उनकी मधुर स्मृति ही जीवन का आधार है। उनके युगल-चरणों में शत् शत् नमन !!

• • •

शिवसूत्र के प्रिय सूत्रः-

चैतन्यमात्मा।

उद्यमो भैरवः।

शरीरं हविः।

ज्ञानं बन्धः।

।। श्री राधा ।।

भगवद् प्रेमी सन्त

कुसुम जी, वेणु विनोद कुँज, वृन्दावन

ममता और अहंता का ब्रह्म में पूर्णरूपेण निमज्जन होने से मन, बुद्धि, अहंकार, इन्द्रियों का कार्य अवरुद्ध हो जाता है। आत्मानन्द की अनुभूति देने वाले भगवद् प्रेमी सन्तजन विरले ही होते हैं।

वह तो जन्म और मत्यु दोनों से ही परे होते हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, और मत्सर इन छः शत्रुओं के विजयी महापुरुष सदा ही वन्दनीय होते हैं। उनकी समाधि अतुलनीय आनन्द प्रदायिनी होती है।

" सन्तों की महिमा तो अनन्त है।"

परम पूज्य स्वामीजी महाराज के कई बार दर्शन हुए। उनका वात्सल्य भाव समय समय पर मिलता ही रहा। एकबार परम पूज्य श्री महाराज जी के साथ कश्मीर यात्रा का प्रोग्राम बना। रास बिहारी को साथ लेकर पूज्य महाराज जी कश्मीर पहुँचे। स्वामी श्री राम शर्मा के रास बिहारी जी से पूज्य श्रीजी का अत्यन्त भाव था। विशाल हरा भरा बगीचा, जिसमें रंग बिरँगे, जहाँ तहाँ, पुष्प खिले थे। लता पत्तों से सुसज्जित सुन्दर पर्ण कुटीर के मध्य में आपका निवास देखकर मन को बहुत ही अच्छा लगा।

एक दिन मैं पूज्य श्री स्वामी जी के पास बाहर बगीचे में बैठी थी, चर्चा ब्रज-भूमि की चल पड़ी। उन्होंने कहा कि देखो ये जो सामने सफेद रंग का पर्वत दिखाई दे रहा है, इसे मैं बरसाना मान लेता हूँ और जो दूसरी ओर नीले रंग का पर्वत है इसे मैं नन्दगाँव समझता हूँ , ये मेरी कुटिया के पीछे जो पर्वत है, ये तो श्री गिरीराज जी हैं। फिर मुझे संकेत करते हुए कहा क्यों ठीक है न ! मैं संकोच वश तुरन्त कुछ उत्तर न दे सकी, चुप ही रही, पर फिर धीरे से बोली, ''आपकी दृष्टि में सत्य ही है। इसमें सन्देह ही क्या है। पर हमारे जैसे स्थूल



दृष्टि वालों को तो स्थली का महत्व विशेष है। कारण कि वहां पर आज भी नन्दगाँव, बरसाना में स्थलीय चिह्न दृष्टिगोचर होते हैं। अनन्त सरोवर हैं। स्थूल दृष्टि वालों को भी लीलाओं के चिह्न आज भी अपनी ओर आकर्षित करते हैं। श्री गिरिराज जी में आज भी चरण चिह्नों के दर्शन पाये जाते हैं। जो यहाँ सम्भव नहीं। हाँ दिव्य दृष्टि प्राप्त महापुरुष तो नित्यधाम से सम्बन्धित रह ही सकते है। वह चाहे जहाँ रहें चाहे कुछ भी करें।''

बातों-बातों में ही कई बार मेरे से रास लीला के विषय में भी चर्चा किया करते थे। मेरी वाचालता और उनका वात्सल्य बड़ा ही रसदायी होता था। एक बार रास मण्डली को साथ लेकर खीर भवानी जाने का निश्चय हुआ। बस द्वारा सभी एक साथ रवाना हुए। बस बाजार में होकर जा रही थी। पूज्य स्वामी जी ने कहा ''कुसुम, कुसुम कहाँ है बुलाओ।'' मैं तो घबराई बाप रे क्या हो गया। शीघ्रता से चलती बस में ही उनके पास पहुँची तो, मुझे एक दुकान की ओर अपने हाथ की अंगुली का इशारा करते हुए कहते हैं, ''देखो ये क्या है ? मैं राम-राम कहकर वापिस लौटने लगी तो कहते हैं अरे! अभी रुको और दिखाऊँगा। यह कहकर हँसते जाते थे। उनकी हँसी से मानो पुष्प वृष्टि हो रही थी। उनकी हँसी में एक 'राज' था। मुझे छेड़ कर चिढ़ाकर, उन्हें अच्छा लगता था। मैंने उनसे यह कहा था कि, ''आपका कश्मीर तो बहुत गन्दा है। यहाँ तो दुकानों पर सब खुला ही टंगा हुआ है।'' इसीलिये मुझे चिढ़ाते थे। उनका स्नेहपूरित चिढ़ाना आज भुलाये नहीं भूलता।

पूज्य श्री स्वामी जी का जन्म दिन अप्रेल मास में मनाया जाता है। परम पूज्य श्री महाराज जी सहित श्री लाल जी अपने परिवार को भी साथ में लेकर कश्मीर पहुँच गये। पहले सूचना शायद नहीं दे पाये थे या मिली नहीं थी। अचानक श्री कमला जी की कोठी पर पहुँचे, वहाँ श्री कमला जी नहीं थीं। अपार जनसमुदाय में कमला जी का पता करना अत्यन्त कठिन था इसीलिये श्री लाल जी ने स्पीकर के माध्यम से श्री कमला जी को बुलवाया। श्री कमला जी तुरन्त पहुंची। यह



समाचार श्री स्वामी जी तक भी पहुँच गया। समाचार मिलते ही पूज्य श्री स्वामी जी आनन्द में नाच उठे और उस अपार भीड़ को चीरते हुए श्रीजी की मिलन त्वरा से अभिभूत होकर ऐसे आये जैसे कितने दिन से मिलने को व्याकुल हों। मिलन का वर्णन करना शब्दों से परे है। यह आनन्द तो जिसने भी मिलते देखा है वही अनुभव कर सकता है। आनन्द का प्रवाह धारा बही चली जा रही थी। उसमें यह भी भान नहीं था कि यह कौन हैं कहां है !

मैं स्वास्थ्य की गड़बड़ के कारण एक दिन नीचे न जा सकी। तो पूछा, ''क्यों नहीं आई ?'' ज्ञात होने पर स्वयं चिन्ता व्यक्त करते हुए, डा॰ को लेकर ऊपर कमरे में आये, दवा दिलाई और कहा कि, ''मेरे यहाँ से ही पथ्य भी आयेगा, वही लेना है। ''महानता छिपाये नहीं छिपती, प्रगट हो ही जाती है। स्नेह बिन्दु बह रहे हैं–सर्वत्र। उनका स्नेह अद्‌भुत था। वह अत्यन्त चतुर होते हुए भी सरल चित्त थे। उनका अपने इष्ट श्री शंकर जी के प्रति इतना अधिक आकर्षण था कि रास में जब शंकर लीला हुई तो शंकर जी के साथ फोटो खिंचवाना स्वीकार कर लिया। उस समय उनकी उत्सुकता देखने वाली थी। वह सदा प्रफुल्ल रहते थे। मन्द मुस्कान युक्त मुखाकृति सभी को विचित्र शान्ति प्रदान करने में सहायक होती थी। उनके जन्मदिन पर मैनें अपनी आँखो से देखा, एक छोटे से वृक्ष के नीचे बैठे हैं, समाधि लगी हुई है। जनसमुदाय का उन पर कोई प्रभाव नहीं था। समाधि खुलने पर भी बहुत समय तक अर्धबाह्य दशा में ही रहे। मैं बिल्कुल पास बैठी थी। थोड़ी देर तक तो मुझे पहचान भी नहीं सके थे। पूर्ण भान में आने में काफी समय लग गया था। धीरे धीरे ही प्रकृतिस्थ हुए थे। उस अलभ्य दर्शन का लाभ उनकी कृपा से ही सम्भव हुआ। उनके विषय में क्या लिख सकती हूँ। उनको स्मृति में लाना अपने को पावन करना है। उनका हस्तलिखित पत्र भी मेरे पास रखा है जो उनकी स्मृति को दुहराता रहता है। मैं तो उनके चरणों में प्रणाम करती हुई निवेदन करती हूँ कि मैं अपने परम पूज्य के श्री चरणों में सदा सदा के लिये अर्पित हो जाऊँ। अन्य कुछ शेष ही न रहे ।





जय गुरुदेव-श्रद्धांजलि

श्री मोहन लाल सोपोरी,
C - ४०७ सरिता विहार, नई दिल्ली

मैं सत्य शब्दों में अपने को बहुत ही भाग्यशाली समझता हूँ कि मैं बचपन से ही श्री १०८ स्वामी ईश्वर स्वरूप जी लक्ष्मण जी महाराज के संपर्क में रहा। स्वामी जी की बड़ी बहिन, गुणवती जी का विवाह, मेरे आदरणीय बड़े भाई, जवाहिर लाल जी के साथ हुआ था। अतः स्वभावतः आना जाना बचपन से ही रहा। एक बार स्वामी जी महाराज ने स्वयं हम से कहा कि, ''जब हम प्रथम बार अपनी बहिन के साथ इस घर में प्रविष्ट हुए, तो ऐसा अनुभव हुआ कि इस घर के एक विशेष प्राणी के साथ हमारा पूर्व जन्म का गहन संबन्ध रहा है। किन्तु हम अपनी जिज्ञासा को व्यक्त नहीं करते थे। अकस्मात्, वहाँ जाने पर एक दिन, हमारे सामने एक किशोरावस्था की कन्या आई, उन्हें देखते ही हमें पूर्व-स्मृति उभर आई और हमें एक प्रकार की प्रत्यभिज्ञा हो गई।'' यह थी मेरी बड़ी बहिन सुश्री शारिका देवी जी। शारिका जी बचपन से ही साधु स्वभाव की थीं। हम दोनों परस्पर खेला करते थे, तो वह मिटट्री को रौंध कर भगवान् शंकर के लिंग बनाया करती थीं। उन्हें पूजा करके अपना मनोविनोद करती थीं। इसके अतिरिक्त कभी तो सादा कागज़ लाकर उस में राम राम सारा दिन लिखतीं, फिर उन्हें नदी में प्रवाहित कर देती थीं। यही उनकी बाल क्रीडा कई वर्षों तक रही। कुछ वर्षों के बाद दैव-योग से हमारे घर में लाहौर से, एक हठ योगी संन्यासी पधारे। हमारे पिता जी ने उनका यथा योग्य आदर सत्कार किया और उन्हें अपने घर में रहने के लिए सुविधा प्रदान की। उनके संपर्क में रह कर, सुश्री शारिका जी प्राणायाम आदि सीखने लगीं। कुछ ही समय में उन्हें प्राणायाम से पर्याप्तमात्रा में अन्तर्मुखता होने लगी। इन्हीं दिनों में, एक दिन स्वामी जी महाराज हमारे घर में पधारे तो उन्होंने शारिकादेवी जी की अन्तर्मुख अवस्था भाँप ली। उन्होंने मुझे आदेश किया कि ''तुम इन्हें मेरे पास लाओ। हम इनकी योग सम्बन्धी कई गुत्थियाँ सुलझायेंगे, जिससे वह इस मार्ग में निष्णात बनेगी''। मैं बालक तो था ही, सरल स्वभाव के नाते कह बैठा, ''महाराज! हमारे माता-पिता तो अप्रसन्न



हो जायेंगे।'' महाराज जी ने कहा हम तुम्हें आशीर्वाद देते हैं कि तुम्हें कोई बाधा उपस्थित नहीं होगी। यदि तुम रात को भी हमारे पास आओगे तो, न तो चोर या कुत्ता ही तुम्हें तंग करेगा और न ही माता पिता कुछ कहेंगे। महाराज की आज्ञा को शिरोधार्य करके हम दोनों भाई बहिन उनके पास रात के तीन बजे निर्विघ्न रूप से जाने लगे।

यह था देवी शारिका जी का स्वामी जी के पास जाने का प्रथम प्रयास। इस समय की अवधि में, देवी शारिका जी मेरे साथ प्रायः प्रतिदिन ही प्रातः चार बजे से नव बजे तक स्वामी जी के पास जाकर, व्याकरण, अभ्यास आदि का पठन तथा मनन करती रहीं, और मैं स्कूल व कॉलिज जाकर अपनी विद्या का अर्जन करता रहा। एक दिन महाराज जी ने मुझसे कहा कि, ''तुम और मैं, कुछ दिनों के लिए भ्रमण करने के लिए निशात के निकट, एक रमणीक गोपीतीर्थ नामक स्थान में टेंट (तम्बू) लगा कर रहेगें।'' महाराज जी ने मुझे अभ्यास की शिक्षा तो छुट्टपन में ही दी थी। अतः स्वभावतः मैं प्रसन्न हो गया। स्वामी जी महाराज की आज्ञा को शिरोधार्य करके हम दोनों वहाँ कुछ समय के लिए गये। इन्हीं दिनों में स्वामी जी की आन्तरिक प्रेरणा के फल स्वरूप देवी शारिका जी, मेरी छोटी बहिन प्रभा जी तथा मेरे पूज्य भ्राता जी के लड़के मोतीलाल जी भी वहाँ रहने के लिए आये। इन्हीं के साथ स्वामी मुक्तानन्द जी भी आये। दो चार दिन रहने के बाद, देवी शारिका जी ने स्वामी जी से एक दिन सहज रूप से प्रार्थना की, कि, ''आप मुझे स्वरूप लाभ प्रदान करें।'' उस समय शाम के छः बजे थे। स्वामी जी महाराज डेकचेयर पर आसीन थे। बोले, ''स्वरूप लाभ की प्राप्ति भी क्या खेल है। यह तो अभ्यास की तीव्रता तथा परम वैराग्य से ही प्राप्त होता है। हम भी तो साधारण व्यक्ति ही ठहरे, तुम्हें कैसे प्रदान कर पायेंगे।'' देवी जी अपने हठ पर डटी थीं। वे बोली, ''आप साक्षात् शंकर के स्वरूप हैं, मुझे पूर्ण विश्वास है आप सामर्थ्यवान हैं, मेरी अनन्य भक्ति आप को रिझा कर ही रखेगी।'' यह वाक्य कहते ही उनके नेत्रों से अश्रुप्रवाह रात के बारह बजे तक होता रहा। यह दृश्य मैं तथा मुक्तानन्द जी देख रहे थे। दोनों बच्चे तो



सो रहे थे, स्वामी जी ने मुझे आज्ञा दी इन दोनों बच्चों को टेंट से बाहर चिनार वृक्ष के नीचे लिटा दो। देवी जी के अनथक अश्रुओं की झड़ी को देख कर, मुक्तानन्द जी ने स्वामी जी से कहा-''क्या इस कन्या को समाप्त करने पर तुले हैं ?'' यह भक्त और भगवान का न्याय है। यह दृश्य उस समय ठीक वैसा ही लग रहा था, मानों एक बालक चांद को पृथ्वी पर लाने की धुन लिये हो। मुक्तानन्द जी तो बाहर चले गये। मैं यह विस्मय लीला हाथ जोड़ कर देख रहा था। बारह बजे के बाद स्वामी जी महाराज अपने शिव रूप में आ गये और उन्होंने देवी जी से कहा-''तुम मेरे सम्मुख आकर 'उत्पलस्तोत्रावलि' का पाठ करो और मुझे शंकर मान कर पूजा करो।'' देवी जी ने एक घंटे तक रोते-रोते पूजा की। चार बजे के समय स्वामी जी महाराज ने अपना वरद हाथ देवी जी के सिर पर रखा। हाथ रखते ही देवी जी के अश्रु सूख गये और वह लगभग बीस मिन्ट अन्तर्मुख हो गई। इसके बाद वह महाराज जी से बोली, ''अब मैं दिव्य सुगन्धि से पूर्ण समाधि का अनुभव कर रही हूँ।'' महाराज जी ने देवी जी की परिपक्व अवस्था को भाँप लिया तो कहा, ''तुम मुझ से वर माँगते जाओ हम स्वीकृति देते जायेगें।'' प्रथम वर आजन्म ब्रह्मचारिणी रहने का था, दूसरा वर था अभ्यास परायण रहने का और तीसरा था, आजन्म इकट्ठे रहने का। दो वरों का माँगना तो देवी जी ने सहर्ष मान लिया किन्तु तीसरे वर को वह माँगना नहीं चाहती थीं किन्तु महाराज के विशेष आग्रह करने पर देवी जी यह वर भी माँगने के लिए विवश हो गईं। तब स्वामी जी महाराज ने ''तथाऽस्तु'' कह कर शिवरूप में उन्हें तीनों वरों की पूर्ति प्रदान की। इतने में प्रातः कालिक पौ फटने वाली थी, महाराज जी देवी जी को पास ही बहती हुई 'कुल्या' जो जल से प्रपूर्ण थी, वहाँ ले गये और नग्न रूप में उन्हें अपने हाथ से नहलाने लगे। फिर मुंह अपने हाथों से धोया। फिर उन्हें वस्त्र पहनाये। अब हम तीनों इधर-उधर टहल से रहे थे। देवी जी ने मुंह में दातन चबाते हुए स्वामी जी की ओर निहारते हुए कहा, ''मैं सत्यतः अणु अणु में व्यापक हूँ। मेरी ही सत्ता चारों ओर छिटक रही है। मैं मोहन लाल का भी उद्धार कर सकती हूँ।'' स्वामी जी मौन रह कर सभी सुन रहे थे। वे इतने



समय में, टेन्ट के करीब पहुँच गये थे। उन्होंने अपने हाथ के संकेत से देवी जी की सभी अवस्था हर सी ली और बोले, ''अभी समय नहीं है इस अवस्था में रहने का। जीवन में अभी बहुत कार्य करने हैं। हम तुम्हें यह अवस्था समय आने पर पुनः प्रदान करेंगे।'' कई युगों के बाद, भाग्यशालियों को ही ये अवस्थायें प्रदान होती हैं। जो यह दृश्य देख रहे हैं वह भी भाग्यशाली है। इतना कहकर स्वामी जी महाराज तो मौन हो गये। किन्तु देवी जी बहिर्मुखता में आ गई तो पुनः रोने लग गई। वे अपनी अवस्था की पुनः याचना करने लगीं। उस समय ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो सर्प अपनी मणि से वंचित हो, या चांद अपनी शीतलता को खो बैठा हो। देवी जी के अनुनय विनय करने पर भी, जब वह प्राप्तावस्था उन्हें लौटाई न गई तो वह एकदम पागल सी हो गईं। एक नेत्र की ज्योति भी रोने से समाप्त हो गई थी और उन्हें हल्का सा बुखार भी हो गया। उनकी यह दशा देख कर स्वामी जी महाराज ने आज्ञा दी कि, ''अब घर जाना ही श्रेयस्कर है।'' हम सब ने जल्दी से नाशता किया। सामान बन्द करने लगे। दो बच्चे तथा मुक्तानन्द जी आदि को तो अलग, शहर की ओर जाने के लिए कहा। हम तीनों महाराज जी तो तांगे के आगे बैठे, मैं तथा शारिका देवी जी तांगे के पिछले भाग में बैठे। इतनी देर में जब तांगा पूरे नेहरू पार्क के सामने पहुंचा तो देवी शारिका जी ने महाराज जी को एक दो अपशब्द कहे। महाराज जी ने तांगे से मुड़कर जब देवी जी की ओर देखा तो मुझे भगवान् शंकर के रूप में महाराज जी का आभास हुआ। अनुमानतः देवी जी ने साक्षात् दर्शन किये होंगे। तभी उनके मुख से एक दम क्षमा याचना के शब्द प्रस्फुरित हुए और वह उनसे अनुनय विनय करने लगी। मैने तो चन्द्रकलाधारी भगवान शंकर के रूप में दर्शन किया। कुछ समय के बाद हम शहर पहुँचे तो, पहिले स्वामी जी महाराज को उनके घर, फतेकदल, में पहुँचाया। तब हम दोनों सराफकदल अपने घर गये। माता, पिता ने जब देवी शारिका जी को रूग्णावस्था में देखा तो वह घबरा गये। बिस्तर पर उन्हें लिटा दिया। दो तीन दिनों में वह अधिक रुग्ण हो गईं। उन दिनों वहाँ के प्रसिद्ध डॉ॰ शंकरनाथ गंजू हुआ करते थे, उन्हें बुलाया गया।



उसने देखते ही कहा कि कन्या तो एक दो दिन की पाहुना है। यह कह कर वह तो चला गया। इधर माता जी ने मुझे स्वामी जी के पास भेजा। देवी जी सचमुच आँखें मूँदे हुए जीवन के अन्तिम क्षणों का अनुभव सा कर रही थी।

मैं स्वामी जी के पास पहुँचा तो उन्होंने मुझे कहा कि, ''जब कॉलिज से आओगे तो साथ में एक पाव अंगूर लाना।'' मैं जब चार बजे वहाँ से आया तो स्वामी जी के हाथ में अंगूर दिये। अंगूर के कुल तीन दाने, महाराज जी ने मुझे दिये और कहा, ''यह शारिका जी के मुँह में एक एक करके डाल देना।'' आश्चर्यलीला यह है कि कहाँ तो देवी जी जल तक का पान नहीं कर पाती थीं, इन अगूंरों के मुँह में जाते ही उन्होंने नेत्र खोले, अंगड़ाई ली और एक दूसरे को देखने लग गईं। ऐसा प्रतीत हुआ-स्वामी जी ने उन्हें पुनर्जीवन प्रदान किया। यह थी महाराज जी की अलौकिक शक्ति। वह वस्तुतः सामान्य योगी न थे। वह तो योगीराज थे जो जन्म से ही सिद्धि को प्राप्त किये हुए थे। उनके अभ्यास करने की निराली रीति थी। सब के बीच में रह कर वह अपने स्वरूप में सदालीन रहते थे। लोगों के संपर्क में रह कर भी वह उनसे न्यारे रहते थे। सदा समाधि का रसास्वादन लेते हुए बाह्य व्यवहार में भी निष्णात थे। महाराज जी सत्यतः असाधारण विद्वान, शैव-शास्त्र के मर्मज्ञ तथा अलौकिक गुरुदेव थे।

इस भाँति आगे जाकर दोनों महान विभूतियों के माता पिता ने ईश्वर नामक पहाड़ी के दामन में दोनों के बड़े दो सुन्दर भंवन आमने सामने बना दिये। मैं भी इस बीच में कॉलिज जाने लगा। महाराज जी का मुझ से अनन्य प्रेम था वह चाहते थे मुझे भी अपने साथ ही रखें किन्तु हमारी माता जी ने अनुनय विनय किया महाराज! मैं दो सन्तानों को विरक्त कैसे देख सकूँगी। तब महाराज जी ने कहा ''अच्छा मोहनलाल का विवाह कर दो। यह गृहस्थ में भी मेरे परायण ही बना रहेगा।''



इसके बाद एक दिन मैं स्वामी जी के पास गया तो वह मुझे लेकर किश्ती में बैठकर, भ्रमण करने के लिए चल दिये। किश्ती झील के जब ठीक मध्य में पहुँची तो एक दम बवंडर सी वायु चलने लगी। किश्ती डगमगाने लगी। किनारे पर बैठे हुए दर्शकों ने चिल्लाना शुरू कर दिया कि, ''वह किश्ती डूबने वाली है। स्वामी जी महाराज ने मांझी तथा मुझ से कहा कि पाँच मिनट के लिए आँखे मूँद लो।'' चप्पू को भी नहीं चलाओ। हम तीनों स्तब्ध होकर बैठ गये। एक दम वायु तथा वर्षा का प्रकोप बन्द हो गया और हम कुछ समय में किनारे लग गये। यह थी स्वामी जी महाराज की आत्मिक अलौकिक शक्ति।

मैं कॉलिज में पढ़ता था। एक दिन ईश्वर स्वरूप जी महाराज ने मुझे कहा कि, ''तुम्हें दो चार दिनों का अवकाश है अतः हम दोनों 'द्रापहामा,' जो हारवन से आगे राजाओं का आखेट है, वहाँ जायेंगे।'' मैंने आज्ञा को शिरोधार्य किया और दूसरे दिन ही महाराज के निवास स्थान में उपस्थित हो गया। हम दोनों हारवन तो तांगे में गये, फिर वहाँ से बीहड़ जंगल में पैदल ही चल पड़े। हम हारवन से एक दो किलो चावल तथा नमक की थैली ले गये थे। जब हम चलते चलते 'दारवन्य' नामक स्थान में पहुंचे तो महाराज जी ने मुझ से कहा, ''यहाँ हम विराम करेगें और फिर भोजन का प्रबन्ध करेंगे।'' हारवन से हम एक मट्टी की हंडिया भी लाये थे। मैंने छोटी छोटी सूखी लकड़ियां एकत्रित कीं। पत्थर का चूला सा बनाया। स्वामी जी महाराज आये तो उन्होंने आग सुलगा दी। ऊपर हंडिया में पानी और थोड़े चावल डाले। कडछी के बदले लकड़ी से इसे हिलाते रहे। थोड़ा सा नमक डाल दिया। कुछ समय में चावल बन गये। चावलों को ढ़क्कन लगा कर कोयलों पर दम देने के लिए रखा। फिर स्वयं स्नान करने लग गये। निर्मल जल का प्रवाह शब्दायमान था। बीहड जंगल था। खाने के लिए पात्र तो था ही नहीं। मैं विस्मित होकर यह लीला देख रहा था। स्वामी जी महाराज ने जल में टिके हुए दो पत्थरों पर भात परोसा और मुझे कहा, ''खाना प्रारम्भ करो।'' भूख तो लगी ही थी, हम दोनों ने अति प्रेम से क्षुधा को शान्त किया।



ठंडा जल पिया और वृक्ष के नीचे आसन लगा कर बैठ गये। चारों ओर हिंसक जन्तुओं की चिंघाड़े सुनने में आईं। मैं अति भयभीत हो गया। महाराज जी ने लकड़ी का ढ़ेर सामने जला दिया और कहा कि, ''अब कोई भी हिंसक प्राणी यहाँ नहीं आयेगा। तुम दत्त-चित्त होकर अभ्यास करो।'' बारह बजे रात तक तो मैं अग्नि के सम्मुख बैठा रहा। महाराज जी अपने ध्यान में मग्न थे। पौ फटते ही हमने स्नान आदि किया और घर की ओर प्रस्थान किया। महाराज जी की प्रत्येक क्रिया में दिव्यता का पुट रहता ही था। बचपन की बात हैं एक दिन मैं, महामना देवी जी के साथ घर में ईश्वर स्वरूप जी के पास आया तो महाराज जी ने कहा कि, ''मैं शारिका देवी को अपने साथ हारीपर्वत रात को लेजाऊँगा।'' मैं साथ नहीं गया। महाराज जी ने शारिका देवी के सिर में पगड़ी बाँधी, बालक के रूप में वे उन्हें लेकर हारीपर्वत गये। वहाँ से प्रातः काल होते ही घर पधारे तो मुझे शारिका जी ने सामान्य रूप से हर्षित होकर कहा कि, ''मैं ने वहाँ सभी देवताओं के दर्शन किये और सप्तऋषियों का भी साक्षात्कार किया।'' उन्होंने यह भी कहा कि, ''जितनी भी शिलायें हरीपर्वत में है सभी देवताओं ने यहाँ आकर शिलाका रूप धारण किया है। इसीलिए यह पवित्र तथा मनोरथप्रद स्थान माना जाता है।'' उनके कहने से मैं भी फिर यदा कदा हरीपर्वत जाता था। पूर्व स्मृतियों की झंकार जब मस्तिष्क में गूँजने लगती है तो एक अलौकिक आनन्द का संसार खड़ा हो जाता है। जब मैं बी॰ ए॰ की परीक्षा दे चुका तो हम दो चार सहपाठी 'कशकाक' महात्मा जी के पास अपनी परीक्षा का फल पूछने के लिए गये। महात्मा जी ने मुझे कहा कि तुम फेल हो और अन्य तीन सहपाठी पास हैं। मैं अति दुःखी हो गया। मैं दूसरे दिन ही स्वामी जी के पास 'इशबर' प्रातःकाल पहुंचा। स्वामी जी ने मेरी ओर निहारते हुए कहा, ''कहाँ गये थे, अपना परीक्षा फल जाँचने के लिए ?'' मैं विस्मित हो गया और सत्य बात कह दी। स्वामी जी ने कहा, ''तुम आज रात यहाँ रहो कल हम उत्तर बतायेंगे।'' मैंने आज्ञा का पालन किया।



दूसरे दिन मुझ से कहा तुम पास हो वह तीनों फेल हैं। जब परीक्षा फल निकला तो अक्षरशः यही सत्य सिद्ध हुआ। मैं तो उत्तीर्ण हो गया और वह तीनों अनुत्तीर्ण थे। यह था महाराज जी की वाणी में बल।

इस भाँति उनके संपर्क में रह कर अनेकों घटनायें घटी हैं। बाद में उनके अनेकों शिष्य बने। मैं भी अपनी गृहस्थी का सुख भोगने में लग गया। महाराज जी की अपार कृपा मुझ पर यही थी कि वह जब भी मुझे देखते उसी छुटपन के स्नेह से ही आंकते थे। महाराज जी जब अमेरिका से भारत पधारे तो उनका शरीर काफी ढीला सा हो गया था। मेरा हृदय द्रवीभूत हो गया। मेरे हृदय की व्यथा को महाराज जी समझ गये तो धीरे से मुझे कहा कि तुम व्यथित न होओ। अन्तिम समय में शरीर में विकार तो आ ही जाता है। हम मन से पूर्ण आनन्दमय हैं।

महाराज जी के प्रति जितना भी कहें कम हैं। मेरा सम्पूर्ण जीवन उनकी कृपा से ओतप्रोत रहा है। यही है मेरी श्रद्धांजलि उनके पावन तथा दीनोद्धारक चरणों में।

• • •

१. धर्मेणहीनः पशुभिः समानः।
२. संतोषः परमं सुखम्।
३. लोभः पापस्य कारणम्।



"जय गुरुदेव"

श्री गुरवे नमः

पद्मिनी सोपोरी
४०७ सी॰ सरिता विहार, नई दिल्ली

हमारे सत्गुरु श्री ईश्वर स्वरूप जी महाराज कश्मीर के प्रसिद्ध योगेश्वर थे। हमारे कुल में ही सुश्री शारिका देवी जी ने जन्म लिया था। वह भी बचपन से ही प्रभु की भक्ति में लीन रहती थी। कुछ समय के बाद वह ईश्वर स्वरूप जी की शिष्य बनीं। यह देवी आबाल ब्रह्मचारिणी थी। उनकी अनन्य प्रभु के प्रति भक्ति का प्रवाह देखकर, स्वामी जी महाराज आये दिन हमारे घर आते थे। कई दिन हमारे यहाँ रहते थे। उनके संपर्क में रह कर मुझे जो भी घटनायें स्मृति पटल पर अंकित हैं, उन्हें लिखकर मैं अपने गुरुवर्य के प्रति श्रद्धांजलि भेंट कर रही हूँ।

कई वर्षों के बाद स्वामी जी महाराज के पिता जी ने, उनके रहने के लिए निशात बाग की पहाड़ियों के दामन में, एक भव्य मकान बनवा दिया। इधर देवी जी के पिता महोदय ने भी, स्वामी जी के मकान के करीब में ही उनके रहने के लिए सुन्दर मकान बनवा दिया। यदा कदा हम सभी उनके पास रहने के लिए जाया करते थे।

वैसे तो दोनों गुरू और शिष्य समाधि के आनन्द में विभोर रहते थे। हमारे छोटे छोटे बच्चे भी हमारे साथ होते थे। हम स्वामी जी महाराज के भय से उन्हें पूर्ण नियन्त्रण में रखते थे। उनके रोने की आवाज़, स्वामी जी के कानों तक न पहुँचे, अतः उन्हें मकान के दूसरी ओर सुलाया करते थे।

अन्तर्मुख रहते हुए भी, स्वामी जी महाराज घूमने के बहुत शौकीन थे। महाराज जी ने एक दिन शंकरपल जाने का विचार किया। हमारा सभी परिवार



उनकी आज्ञा को शिरोधार्य मान कर वहाँ जाने के लिए तैयार हो गया। स्वामी जी ने अपने रसोईये को अन्य नौकरों के साथ प्रातः काल ही, सभी खाने पीने का सामान लेकर जाने को कहा। स्वयं तथा हम सभी पैदल हारवन की ओर चल दिये। यह वार्ता लगभग चालीस वर्ष पूर्व की है। उन दिनों बसों आदि का यातायात वहाँ न था। अतः हम सभी महाराज जी के पीछे पीछे श्लोक आदि पढ़ते हुए आनन्द में चल रहे थे। लगभग दो घंटे के बाद हम शंकरपल नामक स्थान पर पहुँच गये। यह विशाल पत्थर महादेव के दामन में बीहड़ जंगल में एक स्वच्छ निर्मल जल प्रवाह में अवस्थित है। कहते हैं इसी शिला के नीचे प्रसिद्ध शिवसूत्र खुदे थे, जिन्हें शैवशास्त्र के मर्मज्ञ वसुगुप्ताचार्य ने भगवान शंकर के आशीर्वाद से इन श्लोकों का साक्षात्कार किया। इन्हें मन में मनन किया तथा बाद में इनके आधार पर बौद्धों को हराया।

स्वामी जी महाराज इस स्थान को देख कर विभोर हो गए, उन्होंने हम सबों को इसी जल प्रवाह में नहाने का आदेश दिया तथा साथ ही कहा कि जल्दी से चाय बनवाओ। मैं ने नौकरो से चाय व पूड़ी बनवाई। इतने में स्वामी जी महाराज स्नान करके आ गये। उस समय वे फिरन आदि वस्त्र पहन कर इस शिला पर भगवान् शंकर के समान शोभायमान थे। मैंने गर्म गर्म चाय खासू में उंडेली। स्वामी जी ने बड़े प्रेम से पी और कहा कि अब सभी चाय पीकर शिवस्तोत्रावली का पाठ मेरे सम्मुख करो। आज्ञा मिलते ही हम सबों ने वैसे ही किया। बारह एक बजे भोजन आदि किया। तब शाम के छः बजे हम वहाँ से, भयंकर जंगल को पार करते हुए, अपने निवासस्थान को पहुँचे। बहुत ही आनन्द के दिन थे। वे सदा कृपा दृष्टि हम पर रखते थे।

दूसरी बार, मैं ससुराल से ही उनके पास शहर से गई। पहाड़ी तक पहुँचते दिन के ग्यारह बज गये। महाराज जी भोजन कर रहे थे। भोजन समाप्त करके, मुझे अपनी थाली ही पकड़ा दी और कहा कि, ''मैंने तुम्हारे लिए इस में प्रसाद



रखा है, तुम यह सभी खा लो।'' मैं हाथ धोकर आई, जब मैं प्रसाद पाने लगी तो महाराज की दृष्टि मेरी अंगूठी पर पड़ी। इस में मेरे पतिदेव का नाम खुदा था। इसे देखते ही कह उठे कि, ''यह अंगूठी मुझे दे दो।'' मैं पहले तो बहुत घबरा गई। बुद्धि अभी कच्ची थी, सास ससुर का भय भी था। मैंने धीमे स्वर में कहा कि, ''महाराज जी इस में मेरे पतिदेव का नाम खुदा हुआ है। मैं यह कैसे आपको दे सकती हूँ ? महाराज जी ने कहा-''तो क्या हुआ। क्या तुम मुझे गुरु दक्षिणा कुछ भी नहीं दोगी ?'' यह सुनते ही मैंने जल्दी से उतार के अंगूठी दे दी। अंगूठी लेते हुए महाराज जी ने कहा कि तुम्हें मन में खेद तो नहीं हुआ ? मैंने प्रसन्नता का भाव जतलाते हुए कहा, ''महाराज जी! मैं प्रसन्न मन से दे रही हूँ।'' तब कहने लगे, ''मुझ से माँगना नहीं।'' जब मैं ससुराल आई तो सास जी ने मेरी अंगुली को खाली देखा तो पूछा ! ''अंगूठी कहाँ रखी है ?'' मैंने झूठ से कह दिया वह मैनें उतार के रखी है। उत्तर सुनते ही वह कह बैठी मुझे ला कर दिखाओ।'' मैं घबरा गई। मैंने तुरन्त कह दिया ''वह ईश्वर स्वरूप जी ले गये।'' उनका नाम सुनते ही वह चुप हो गई। कई वर्षों के बाद एक दिन, गुरु महाराज जी अचानक हमारे घर पधारे। मैं अगूंठी को पूर्ण रूप से भूल चुकी थी। दयालु गुरुदेव ने मुझे प्रेम पूर्वक पास बिठा के कहा—''अब यह अंगूठी अपनी उंगली में डाल के रखो। इससे तुम्हारा आगामी जीवन सुख-पूर्वक व्यतीत होगा।''

इस घटना के कई वर्ष बाद, महाराज जी ने यह पहाड़ी में अवस्थित मकान तथा ज़मीन आदि, थोड़े से दामों में ही बेच दी। अब ईश्वर स्वरूप जी निशात तथा गुप्तगंगा के मध्य वाले समतल भूमि पर मकान बनवाकर रहने लगे। यहाँ सड़क के पास होने से कई बातों की सुविधा तो रही, किन्तु शिष्यवर्ग का यातायात बढ़ गया। इस समस्या की पूर्ति करने के लिए, महाराज जी ने रविवार का दिन शिष्यों के आने के लिए रखा। इस दिन बहुत ही समारोह सा होता था। दिन के ग्यारह बजे से ही दर्शनार्थी आते, स्वामी जी के मुख से व्याख्यान का लाभ



उठाते तथा चाय आदि का प्रसाद लेकर अपने घरों को जाते थे। लगभग १९७० ई॰ की बात है महाराज जी को मथुरा, वृन्दावन, हरिद्वार, वैष्णवी देवी आदि तीर्थों की यात्रा का शुभ संकल्प हुआ। महाराज जी सबसे पहिले हमारे घर आये वहाँ हमारी सास जी से कहने लगे–"हमारी यात्रा में तुम्हारी बहूरानी, पद्मिणी तथा उसकी कन्या प्रतिभा भी सम्मिलित होगी।" उन्होंने मुझे तथा प्रतिभा को यह समाचार कहा। मैंने महाराज जी से कहा, "महाराज जी मेरी कन्या प्रतिभा की मिडल परीक्षा बोर्ड की है। मैं तथा यह कैसे जा सकते हैं ?" महाराज जी ने मेरी बात टालते हुए प्रतिभा से कहा "देखो तुम मेरी बात मानो मुझ पर विश्वास रखो तुम प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हो जाओगी।" स्वामी जी महाराज का वरद आशीर्वाद सुनते ही हम दोनों ने जाने की हामी भर दी।

दिन निश्चित हुआ। माघ का महीना था। श्रीनगर जम्मू का रास्ता सर्दियों में हिमपात के कारण भयावह ही होता है। उन दोनों स्वामी जी के प्रेमीभक्त, श्रीकण्ठ जी रैणा, ट्रान्सपोर्ट कमिश्नर थे। उन्हें दो बसों के लाने की आज्ञा दी। साठ, सत्तर शिष्य इन दोनों गाड़ियों में बैठे। स्वामी जी ठीक भगवान शंकर की भाँति, सबों के सहायक बनकर, गाड़ी की प्रथम सीट पर बैठे। शरत यह रही कि सम्पूर्ण जम्मू के मार्ग में कभी तो स्वामी जी महाराज एक बस में चढ़ेंगे और जब वे चाहें तो दूसरी बस में बैठेंगे। इस सम्मति से सभी शिष्य प्रसन्न हो गये। सभी शिष्य अपना अपना भोजन साथ लाये थे। स्वामी जी ने मुझे आज्ञा दी थी कि मेरा भोजन तुम ही बना के लाना। रामबण में बसें रूकीं, हम सबों ने लारी में बैठ कर ही भोजन किया। बहुत ही आनन्द था, उत्साह था, उमंग थी। यात्रा में जाने की सब से सुखदायक बात यह थी कि हम साक्षात् भगवान शंकर के साथ यात्रा करते जा रहे थे। खैर, रात को आठ बजे हम जम्मू पहुँचे। दूसरे दिन, दिन के चार बजे की ट्रेन में हम दिल्ली की ओर चल पड़े। दो तीन बोगियों में हम ट्रेन में बैठे। प्रभु का कीर्तन करते हुए हम दिल्ली पहुँचे। वहाँ स्वामी जी के एक भक्त ने मिलट्री एरिया में एक मकान की बुकिंग की थी। वहीं हम सभी



रहे। हमारे साथ दो नौकर थे। नौकरों ने स्वामी जी की आज्ञानुसार चाय तथा भोजन का प्रबन्ध कर दिया। समय पर महाराज जी ने सभी शिष्यों सहित भोजन आदि किया और अब दूसरे दिन हरिद्वार जाने के लिए तैयार हो गये। दिल्ली से हम दिन के चार बजे ट्रेन से निकले तो दूसरे दिन प्रातः हम हरिद्वार पहुँचे। स्वामी जी के परम भक्त, श्री जगन्नाथ जी कौल तथा श्री दीनानाथ जी गंजू इस यात्रा में स्वामी जी के शिष्यों का प्रबन्ध करने में नियुक्त किये गये थे। दोनों भक्त अपने गुरु महाराज के इंगित पर चलते थे। हरिद्वार पहुँच कर, महाराज जी ने हर की पौड़ी के पास वाली धर्मशाला में, दस कमरे बुक करवाये। एक रसोई के लिए कमरा लिया। सभी शिष्य तथा सेवक नहाने के लिये हर की पौड़ी पर गये। एक टोली के रूप में हम सभी स्वामी जी के पीछे पीछे चलते थे। सभी दर्शक, यात्री, स्वामी जी के आकर्षक, तेजस्वी, मुख मंडल को देख कर मंत्र मुग्ध हो जाते थे। स्नान करके हम सब ने गंगा जी की आरती के समय, सब के हाथ में फूलों के दोने और उसमें जलते हुए दीये रख कर गंगा जी में प्रवाहित कर दिये। वह दृश्य देखते ही बनता था। ऐसे अलौकिक दृश्य में सभी यात्री अपने में खो से गये थे। पूजा आदि कृत्य से निवृत्त होकर हम सब ने भोजन किया। स्वामी जी की आज्ञानुसार सभी शिष्यों को प्रातः भोजन के साथ दही और शाम के भोजन के साथ मक्खन की आधी टिक्की दी जाती थी। दो सब्ज़ियां, आलू की कुरकुरी तथा दाल का बनना निश्चित था। सुबह की चाय के साथ पूड़ी और चार बजे की चाय खाली मिलती थी। इस भाँति आठ दिन गंगा जी के तट पर रहकर हर की पौड़ी पर श्रवण कीर्तन करते रहते थे। एक दिन, दो बसों में बैठ कर सारे तपोवन, ऋषिकेश आदि घूमे। वहाँ हम शिवानन्द जी के आश्रम में भी गये। कई वर्षो से स्वामी जी महाराज का एक बालसखा, जिनका नाम नीलकण्ठानन्द सरस्वती था, वह भी शिवानन्द जी के आश्रम में ही रहते थे। वह बालब्रह्मचारी थे। हमारे गुरुदेव उन्हें देखकर अति प्रसन्न हुए, मानो भगवान् कृष्ण ने सुदामाको देखा हो। उनके कमरे में हम सब के बैठने



का स्थान न देख कर, हम उनके पास वाले सहन में सभी आनन्द पूर्वक बैठे। ये वेदान्ती सन्त थे। ब्रह्म-सूत्र आदि ग्रंथों के पारंगत थे। दोनों मित्र बड़े प्रेम से मिले। उन्होंने स्वामी जी के शिष्यों का बड़ा आदर किया। महामना शिवानन्द जी ने चाय आदि पिलवाई। हम सभी शिवानन्द जी का आशीर्वाद लेकर, उनके व्याख्यान को सुनकर हरिद्वार लौटे। वहाँ आठ दिन रह कर हम दिल्ली चले आये। दिल्ली से महाराज जी ने मथुरा- वृन्दावन जाने की इच्छा प्रकट की। आज्ञा मिलते ही हम सभी तैयार हो गये। दिल्ली के कई भक्त शिष्य भी वहाँ जाने के लिये तैयार हो गये। दो बसों में हम वृन्दावन की ओर चल दिये। वहाँ स्वामी जी के अनन्य मित्र महामना सन्त बालकृष्ण जी रहते थे। स्वामी जी को शिष्य मंडली सहित देख कर वे अति प्रसन्न हुए। उन्होंने सब के लिए भोजन का प्रबन्ध किया। हलवा, पूड़ी, नाना व्यजनों सहित खाकर, जब हम निवृत हुए तो श्री सन्त बालकृष्ण जी ने अपने शिष्यों सहित बृजभाषा में भगवान कृष्ण विषयक समधुर पद गाये। उन्हें सुनकर हम सभी आनन्द विभोर हो गये। गुरु महाराज तो अपनी अन्तर्मुख अवस्था का आनन्द ले रहे थे और हम सभी अपने को अहोभागी मान कर फूले न समाते थे। इसी शाम को हम दिल्ली चले आये और दूसरे दिन ट्रेन में बैठकर जम्मू पहुँचे। वहाँ एक रात रहकर वैष्णवी देवी की यात्रा के लिए चल दिये। हम रात को कटरा पहुँचे। वहाँ होटल में दस कमरे बुक करवाये। सर्दी के दिन थे। देवी शारिका जी भी हमारे साथ थीं। उन्होंने महाराज जी से आज्ञा लेकर, अपनी छोटी बहिन के साथ तथा डॉ॰ शान्ता मुंशी, जो स्वामी जी से बहुत ही स्नेह करती थीं, उनके अनुरोध से रात्रि को ही अद्धकुवारी जाने की ठानी। स्वामी जी ने इन तीनों को आशीर्वाद देते हुए, देवी जी के हाथ में अपनी रूमाल रक्षा के रूप में दी। रात को बारह बजे ये तीनों अद्धकुवारी पहुँचे। वहाँ इनके पहुँचने के बाद खूब वर्षा हुई। प्रातःकाल पौ फटते ही यह तीनों देवी के भजन गाते हुए गुफा तक पहुँच गये। विश्राम लेकर नहाया, तब माता के दर्शन करने के लिए गुफा में प्रविष्ट हुए। दर्शन करके जब बाहिर आये तो देवी जी



को गुरु महाराज की चिन्ता होने लगी कि वे सभी कैसे इस वर्षा में यात्रा तय करेंगे। वे इसी चिन्ता में मग्न थी। तीन घंटे के बाद उन्होंने गुरुदेव को शिष्यमंडली सहित दूर से आते देखा। वे स्वयं अगुवानी करने कुछ दूर तक गईं। महाराज जी प्रसन्न होकर चल रहे थे। अन्त में सभी ने नहा धोकर दर्शन करके रात को माता के दरबार में ही रहना युक्त समझा। धर्मार्थ-ट्रस्ट वालों ने कम्बलें आदि देकर हम सब की सर्दी का निवारण किया और पूड़ी, बुजिया खिला कर भूख को शान्त करवाया। दूसरे दिन बारह बजे हम यहाँ से चले। इस समय खूब हिमपात हुआ। हम सभी गुरु महाराज की छत्र छाया में चलते हुए कटरा पहुँचे। वहाँ भोजन आदि करके तथा कन्याओं की पूजा करके जम्मू की ओर चल दिये। जम्मू में दो दिन रह कर कश्मीर की ओर प्रस्थित हो गये। शिव रात्रि निकट आने वाली थी। सभी अपने घरों में पहुँचना चाहते थे। इस यात्रा में मेरी लड़की प्रतिभा भी साथ थी। उसने वहाँ से आकर जब मिडिल की परीक्षा दी तो सचमुच वह प्रथम श्रेणी में, सबसे अधिक नंम्बर लेकर उत्तीर्ण हो गई। भला गुरुवर्य की वाणी अन्यथा कैसे होती ?

इसी भाँति महाराज जी के साथ हम हरमुकुट गंगा की यात्रा करने भी गये थे। सच मानिये बड़े प्रसन्नता के दिन थे वे। वह साक्षात् शंकर रूप थे। क्रोध करते समय उनके सम्मुख कोई भी नहीं जा पाता था। दयालु भी पूर्ण थे, एक बार मेरे मंझले लड़के, उमेश जी, का अमेरिका से कोई पत्र न आया। इसे स्वामी जी ने ही उमेश नाम रखा था और वह उसे प्यार भी बहुत करते थे। मैं इसी चिन्ता में थी। इस चिन्ता को दूर करने के लिए मैं स्वामी जी के पास न जाकर स्वामी नन्दलाल जी के पास गई। वह मस्ताना सन्त थे। उन्होंने इधर उधर की बात करते हुए सन्तोष जनक उत्तर दिया। मैं हर्षित होकर घर आई। दूसरे दिन मैं जब स्वामी जी के पास गई तो, वह बहुत प्रसन्न हुए और मुझे कहा कि, ''तुम भोजन करके जाओगी।'' इतनी देर में एक अन्य शिष्या भी एक



लड़के को साथ लेकर दर्शन के लिए आई। स्वामी जी उसे देखते ही तिलमिला उठे और कहने लगे कि, ''मुझे धोखा देते हो। मस्तानों के पास छिपके छिपके जाते हैं और बाद में शान्त बन कर मेरे पास बैठते हैं।'' मैं घबरा गई। मैंने धीमे से कहा, ''महाराज जी मैं कल नन्दलाल जी के पास गई थी। आप क्षमा करें।'' स्वामी जी हँस कर बोले, ''अब आगे कभी एसी गल्ती न करना। मैं सदा तुम्हारे साथ हूँ।''

जितना भी अपने गुरुवर्य के लिये लिखें कम है। वे सभी शिष्यों के कल्याण के लिए ही उन्हें कभी कभी डाँटते भी थे। व्याख्यान करते हुए वे इतने एकाग्र तथा अन्तर्मुख हो जाते थे, देखते ही बनता था। महाराज जी, अभी भी हमारे स्मरण करते ही कल्याण का हाथ रख कर सान्त्वना देते रहते हैं। वे सचमुच अवतार ही थे। हमारा उद्धार करने के लिए ही वे धरा धाम में उत्पन्न हुए थे। उनके प्रति हमारा कोटिशः प्रणाम !

• • •

योऽयं चकास्ति गगनार्णवरत्नमिन्दु
र्योऽयं सुरासुरगुरुः पुरुषः पुराणः।
यद्वाममर्धमिदमेन्धकसूदनस्य
देवि त्वमेव तदिति प्रतिपादयन्ति।।

• • •



जय गुरुदेव

कमलावती बागाती
३३-डी डी ए फ्लैट, साकेत

मुझे ईश्वरस्वरूप जी की लीलायें हर समय याद आती रहती हैं। आज मन में आया, थोड़ा सा लिखूँ। वैसे मैं पढ़ी लिखी नहीं हूँ, किन्तु फिर भी अपनी बुद्धि के अनुसार ऐसा वैसा लिख रही हूँ। गुरुदेव जब दिल्ली आते थे, इधर सब भक्तजन प्रार्थना करते थे, घर आने के लिए वे किसी को निराश नहीं करते थे। एक बार दिल्ली आये हुए थे हम गये और अपने घर आने के लिए कहा। उन्होंने कहा कि मुझे हरिद्वार जाना है। उधर हरिद्वार तुम्हारे घर आऊँगा, तुम सब उधर पहुँचना। उधर मेरा बेटा श्री चमन लाल उन दिनों हरिद्वार में बी॰ एच॰ ई॰ एल॰ में इंजिनियर थे। उधर ही उनको मकान मिला हुआ था। हम दो दिन पहले उधर गये और तीसरे दिन पूर्णमासी थी जो होली का त्यौहार था। उसी दिन गुरु महाराज को आना था हमारे घर। मैनें बड़े चाव से रसोई में बरतन साफ कर दिये उधर से उन्होने सारा घर साफ किया। भगवान के लिए आसन बिछाये और फूल सजाके रखे। पूर्णिमा के दिन मैं प्रातः तीन बजे उठी। श्रद्धा और भक्ति भाव से गुरुदेव का भोजन बनाना शुरू किया यह अवसर मुझे गुरुकृपा से मिला। फिर अपने समय पर चमनलाल गुरु महाराज को लाने के लिये चले गये। वे हर की पौड़ी के पास ही रह रहे थे। होली खेलने का शोर मच रहा था बहुत ही तेज़ी से। स्वामी जी ने कहा मज़ाख में, ''मैं कैसे आऊँ, न टैक्सी मिलेगी चारों ओर रंग ही रंग है।'' फिर एकदम उठके उसकी मोटर साईकल के पीछे बैठ गये। कुरता पहना था। टांगों में धोती बांधी थी। गले में एक सुन्दर सा मफलर लगाया था। जैसे ही गेट के पास पहुँचे, लगता था स्वयं कृष्ण भगवान अवतरित हो गये हैं, हमारे घर होली खेलने के लिए आये हैं। सारे कपड़े रंगों से भीगे थे, उनका वह तेज स्वरूप, सूर्य के किरणों जैसा चमक रहा था। जैसे ही अन्दर आये हम सबों को रंग दिया। उस समय ऐसा लगा



कि कृष्ण भगवान हमारे साथ होली मना रहे हों। लॉन में बैठे थे, फिर अन्दर आये। आसन पर नहीं बैठे, क्योंकि रंग से कपड़े भीगे थे। ब्रांडे में बैठे थे कहा इधर ही खाना खायेंगे। कुर्सी पर बैठ के सामने मेज़ रखा। हम सबों को भी कहा इधर ही खाना खाये फिर उन्होंने खुशी से खाना खाया। जैसे भगवान को भीलनी के बेर अच्छे लगे थे, मुझ मूर्ख को ऐसा लगा क्योंकि मैने श्रद्धा और भक्ति भाव से बनाया था। फिर अन्दर कमरे में गये और नीचे कालीन पर बैठ गये कहा कैमरा लाओ। कैमरा लाये, उन्होने सारे कपड़े उतार दिये, केवल एक तौलिया टांगों पर रख लिया और फिर फोटो खिंचवाया जैसा-रामकृष्ण परमहंस का है। इस चित्र की हम रोज़ पूजा करते हैं। फिर टेप रिकार्ड मंगवाया उसमें ४-५ श्लोक टेप करवाये। फिर बड़ी खुशी से हम सबको आशीर्वाद दिया तब से हम उनकी पूजा में लगे रहे है। यद्यपि मुझको बहुत ही दुर्घटनाओं का सामना करना पड़ा, पर एक ओर मुझे देवी शारिका जी का सहारा मिलता था और गुरूदेव ने सहन शक्ति दी थी। उनकी चिट्ठी आती थी थोड़ा दुख भूल जाती थी। देवी जी की चिट्ठी मिलती थी तो मन को शान्ति मिलती थी और प्रभादेवी की चिट्ठी मिलती थी तो सहारा मिलता था। इन्हीं के सहारे मैं अपना दुःखी जीवन बिताती हूँ।

मैं कैसे लिखूँ ईश्वर स्वरूप जी की कृपा से मेरे जीवन की नौका दुख में डूबी नहीं। उनकी दया का प्रभाव इतना शक्तिशाली है कि दुःख में मेरा हाथ पकड़ा और शान्ति पथ की ओर लेते गये। मुझे पूर्ण विश्वास है कि गुरूदेव का सहारा तब तक मेरे साथ रहेगा जब तक मैं अंतिम साँस ले लूँगी। यही मेरी कामना और प्रार्थना है।

• • •

१. योगः कर्मसु कौशलम् ।
२. धर्मो रक्षति धार्मिकम्।।



जय गुरुदेव
नमः संवित्प्रभादेवी

कृपाल गांधी
गौरी शंकर मंदिर, अखनूर

यह प्रसंग मई माह सन् १६७६ का है। मेरा मन इस बात के लिए पक्के-रूप से तैयार हुआ कि कोई ऐसा पूर्ण गुरुदेव मुझे मिले जो भवसागर से पार करे। बस मैं घर छोड़ कर निकल पड़ा ऐसे गुरुदेव की खोज में। पूरे ७ माह हजारों सन्तों महन्तों जगद्गुरुशंकराचार्यों से मिला, पर वे मेरे मन को शान्त न कर सके। आखिर अजमेर में पुन्छ (कश्मीर) दशनामी अखाड़े के महन्त ने मुझे पुन्छ बुलाया। मैं पुन्छ पहुँचा वहाँ पर जम्मू कश्मीर समाज कल्याण बोर्ड की सक्रेटरी श्रीमती वागीश्वरीधर से मेरी भेंट हो गई। पुन्छ के जिलाट्रेजरी अफसर श्री पृथ्वीनाथ जी खुरू के घर रात्रि में जगदम्बा देवी का जागरण था। वहां श्रीमती वा॰ धर सा॰ भी आई, उन्हें देखकर मेरी समाधि लग गई। करीब बीस मिनट बाद जब मैं व्युत्थान में आया तो श्रीमती वागीश्वरी धर ने मुझे पूज्य पाद स्वामी जी के निशात स्थित ईश्वर आश्रम जाने की सलाह दी। मैं वापस घर लौट गया। सन् १६७६ के जून माह में, मैं फिर जम्मू आया वहाँ से अपने मित्र श्री सुनील मैनी के साथ प्रथम बार वायुयान से मात्र ८० रूपये किराये से श्रीनगर पहुँचा। वहाँ पर २० दिन रहने के बाद वापस लौट गया। सन् १६८३ के सितम्बर में पुनः श्रीनगर आया वहाँ मेरे मित्र श्री जे॰ पी॰ सिंह का मुकदमा सुप्रीम कोर्ट में चल रहा था। उसने मुझे प्रार्थना की कि मैं उसके साथ निशात स्थित ईश्वर आश्रम जाऊँ। फिर मैं और श्री जे॰ पी॰ सिंह २१ सितम्बर की शाम ६.४० पर स्कूटर से आश्रम पहुँचे। एकदम दिव्य एकान्त प्रकृति की अनुपम छटा में स्थित इस आश्रम के मुख्य द्वार को जो बाहर से बन्द अन्दर से खुला था मैंने हाथों से ज़ोर दिया और द्वार खुल गया। हम दोनों सीधे पूज्यपाद श्री स्वामी जी महाराज



के रहने वाले शयन कक्ष की सीढ़ियों पर पहुँचे। वहाँ से नीचे को आती हुई भगवती परा मां सुश्री प्रभादेवी जी ने संकेत से वापस नीचे को आने का आदेश दिया। हम दोनों नीचे बारादरी की ओर आ गए। चन्द्रमा की चाँदनी को फीका करने वाले वस्त्र माँ भगवती सुश्री प्रभादेवी जी ने धारण कर रखे थे। वे दर्शन मात्र से हमें असीम शांति प्रदान करती हुई बोली आज पूज्य स्वामी जी ने गोपीनाथ से कहा था मुख्य द्वार बन्द न करना कोई आने वाला है। आप फिर किसी दिन आईए, रविवार को। मैंने कर बद्ध प्रार्थना की कि हमें दस मिनट यहाँ प्रतीक्षा करने दें। माँ जगदम्बा सुश्री प्रभादेवी जी ने परमकृपा की। अगले क्षण पूज्यपाद श्री गुरुदेव के दर्शन हुए उन्होंने फरमाया कि क्यों जिद कर रहे हो काम तो तुम्हारे मित्र का मुकदमा सुप्रीम कोर्ट में चल रहा है, जीत जाओगे, तुम अपने लिए कुछ माँगो। जो माँगोगे दूँगा। मैंने सहज स्वभाव से कहा कि मुझे भौतिक साधनों की आवश्यकता नहीं हैं। आप अपना आशीर्वाद मुझे दे दो। फिर पूज्यपाद श्री गुरुदेव ने माँ भगवती सुश्री प्रभादेवी जी से दो आम लेकर एक बड़ा आम प्रसाद में मुझे दिया और मेरे मित्र को दिया। हम दोनों लौट आये।

दिनांक २६.१.८४ को फिर नयी दिल्ली गणतंत्र दिवस की परेड देखने पहुँचा। वहाँ से २६.१.८४ को फिर जम्मू तवी पहुँचा। वायुयान की टिकट श्रीनगर के लिए बुक कराई वेटिगं में उसके बाद अपने मित्र श्री पी॰ एल॰ काचरू के दफ्तर गया। उन्होंने पूछा कि इस ठन्डे मौसम में आप यहाँ क्यों आये, मैंने पूज्यपाद श्री गुरुदेव के बारे में कहा श्री काचरू सा॰ ने बताया कि पूज्यपाद श्री स्वामी जी तो जम्मू में है। उन्होंने गांधीनगर स्थित लक्ष्मण निवास में फोन किया, उत्तर मिला आज सोमवार है पूज्यपाद श्री स्वामी जी समाधिस्थ होते हैं कल आप उनके दर्शन कर सकेंगे। दिनांक ३०.१.८४ मंगलवार के दिन मैं पुनः दर्शन करने गांधी नगर पहुँचा। पूज्यपाद श्री स्वामी जी ने मेरे सिल्क के कुरते को देखकर फरमाया यह चोला गंदा है। मैंने कहा इसे उतार देता हूँ। मैंने तत्क्षण



वह कुरता उतार कर फेंक दिया। पूज्यपाद श्री गुरुदेव ने फरमाया मेरे जन्मदिन पर श्रीनगर आना, नया चोला दूँगा। कालान्तर उन्होंने मुझे अपने हाथ से फिरन पहनाया। मैंने उनसे फोटो माँगी। उन्होंने फरमाया ''यही फिरन मेरी फोटो है।''

दिनांक ७.६.६१ की रात्रि में पूज्यपाद श्री गुरुदेव ने फरमाया कि मैं तुम्हारा परमगुरु हूँ तुम्हारी गुरु देवी सुश्री प्रभादेवी जी हैं। दिनांक ६.८.६१ को मैं जम्मू लौटा। पूज्यपाद श्री स्वामी जी नयी दिल्ली चले गए। २६.६.६१ को रेडियो और टी॰ वी॰ प्रसारण में उनके शरीर छोड़ने की खबर पाकर हम लोग २७.६.६१ को नई दिल्ली रोते पहुँचे।

प्रत्येक क्षण चित्तचमत्कृति के आनंद से भरा रहता था। बहुतेरे प्रसंग हैं। लिखने से काफी विस्तार होगा इसलिए सक्षिप्त में समेटा है। कोई त्रुटि हो तो अकिंचन जानकर क्षमा करेंगे, गुरुदेव ईश्वर-स्वरूप जी।

इति शिवम्

• • •

ये देवि ! दुध्रर‌कृतान्तमुखान्तरख्याः
ये कालि ! कालघनपाशनितान्तबद्धाः।
ये चण्डि ! चण्डगुरुकल्मषसिन्धुमग्ना
स्तान्पासि मोचयसि तारयसि स्मृतैव ।।



श्री सद्गुरुदेवाय नमः

श्री महेन्द्र स्वामी जी
गनेश पूरी

बाबा मुक्तानन्द जी महाराज की कृपा मुझ पर सदा ही रही है। प्रायः बाबा के सत्संग का अवसर मुझे प्राप्त हुआ है। बाबा के अखण्ड समाधि में लीन होने के एक दिन पहले की बात है। एक दिन अचानक बाबा के प्रिय 'इत्र हिना' उन्हें भेंट करने का मन हुआ। मैनें इत्रकी दो शीशियां खरीदीं और गणेशपुरी पहुँचा। बाबा के दर्शन किये और इत्र की एक शीशी बाबा जी को भेंट की। बाबा जी ने शीशी खोलकर इत्र उंगली पर लगाया और नासिका के पास ले जाकर सूंघा, तब बोले, मुझे 'हिना' अच्छा लगा है, इसमें कस्तूरी मिलाओ, तब देखो क्या होता है। फिर वह शीशी अपने पास खड़े एक सेवक को दी, और कहा, इसे मेरे बिछौने के पास रख दो। उसी दिन बाबा जी ने मुझे चले जाने को भी कहा और मैं आश्रम से चल दिया। यह चर्चा बाबा के निर्वाण दिन के एक दिन पूर्व की थी। दूसरे दिन बाबा ने अपना पार्थिव शरीर त्याग दिया और अखण्ड समाधि में लीन हो गये।

उसी दिन बाबा जी ने कहा था, "शैवदर्शन का अभ्यास आवश्यक है, अतः परमशैवाचार्य स्वामी लक्ष्मण जू महाराज का सान्निध्य आवश्यक है।" बाबा जी की आज्ञा अनुसार मैं स्वामी श्री लक्ष्मण जू महाराज के पास गया और दर्शन के पश्चात् मैंने कहा, "मैं आपमें अपने गुरू जी के दर्शन करता हूँ।" तत्पश्चात् मध्याह्न बेला में मैंने इत्र की दूसरी शीशी इन्हें भेंट की। तब उन्होंने शीशी खोलकर इत्र अपनी उंगली पर लगाया और नासिका के पास ले जाकर सूँघा, तब बोले, "मुश्के हिना अच्छा है, इसमें कस्तूरी मिलाओ, तब देखो क्या होता है ?" फिर अपने पास खड़े सेवक को देकर कहा–इसे मेरे बिछौने के पास रख दो।

इस प्रसंग के द्वारा स्वामी जी ने मुझे समझा दिया कि दो भिन्न देहों के होने पर भी दोनों में एक ही गुरुतत्व विद्यमान होता है। यह बात स्पष्ट करते



हुए उन्होंने ऐसे सरलता से समझा दी कि मेरे मन में गुरुतत्व के बारे में ऐसे स्पष्ट हो गई जैसे कहते हैं, हाथ कंगन को आरसी क्या ! समस्या का हल ऐसे हुआ जैसे सूरज की किरणों से अंधेरा नष्ट हो जाता है।

• • •

लक्ष्मीवशीकरण चूर्णसहोदराणि
त्वत्पाद पंकजरजांसि चिरं जयन्ति।
यानि प्रणाममिलितानि नृणां ललाटे
लुम्पन्ति दैव लिखितानि दुरक्षराणि।।

(पंचस्तवी)

• • •

नाथं त्रिभुवननाथं भूतिसितं त्रिनयनं त्रिशूलधरं
उपवीति कृत भोगिनमिन्दुकलाशेखरं वन्दे।।

(शिवस्तोत्रावलि)



अविस्मरणीय गुरुदेव

अशोक धर
सिद्धार्थ नगर, नई देहली

जब कभी भी मैं परमपूज्य गुरुदेव के, हमारे पठानकोट स्थित निवासगृह पर, आगमन की प्रतीक्षा का स्मरण करता हूँ, वह अविस्मरणीय उत्साह एवं आकांक्षा का मधुरतम आभास, यह सभी मेरे स्मृतिपटल में एक ही पल में स्पष्ट हो जाते हैं।

मेरी पूज्य दादी जी (स्व॰ लीलावती) की, अगाध श्रद्धा एवं प्रभु गुरुदेव में आस्था से, हमारे सारे परिवार में प्रभु चरणों के प्रति आस्तिक संस्कार बचपन से ही स्फुटित हो उठे थे। हम पठानकोट में कुल मिलाकर १९५८ से १९६७ तक रहे हैं। इन दस वर्षो में गुरुदेव प्रायः हर वर्ष पठानकोट आकर हमारे घर ही पधारे और वहाँ ही रहते। नगर में ४०–५० भक्तजन परिवार और भी थे, जिनमें कुछ अत्याधिक सम्पन्न थे, परन्तु स्वामी जी सबको छोड़ कर सदैव हमारे पास ही रुकते। वे एक ऐसे मार्गदर्शक थे जो व्यक्ति को न देखकर अपितु उसकी भक्ति को भाँपते थे।

स्वामी जी आगमन की सूचना दिए बगैर पधारते। सीधे आकर छत पर कुर्सी बिछाने को कहते एवं अपनी बाल सुलभ हँसी में कहते, ''दस मिनट में कमरा ठीक कर दो।'' उन दस मिनटों में मानो किसी बड़ी फैक्टरी के तीव्र गति वाले कल पुर्जों की भान्ति, हम श्रद्धाकुसुम बिछा कर उनका आसन बिछौना सँवारते एवं सारा कमरा साफ कर देते। सारा परिवार उनकी सेवा में जुट जाता। हमारा छोटा सा घर (मात्र २ कमरे एवं १ रसोई) मानो गुरुदेव के आगमन के आदित्य से प्रकाशमय हो जाता। मैं स्वयं उनके ठहरने के दौरान उनके कपड़े इस्त्री करता एवं सायंकाल उनके चरण दबाता। स्वामी जी अत्यधिक प्रसन्न रहते। सायंकाल को आरती में बड़ा आनन्द आता।



जिस वर्ष भी स्वामी जी आते, हमारे घर में एक विषैला साँप उसी कमरे में अवश्य प्रकट होता एवं बिना किसी का कुछ बिगाड़े चला जाता। उनके ठहरने के दौरान मेरी माताजी (चन्द्रकान्ता) की श्रद्धा एवं तन्मयता, शुद्धता द्वारा बनाई गई रसोई का स्वाद कुछ और ही रहता था। एक वर्ष उन्होनें स्वामी जी के प्रस्थान के बाद अचानक बन्द कमरे में उन्हीं के बिछौने पर कबूतर की एक जोड़ी देखी जो पलभर में ही लुप्त हो गई थी।

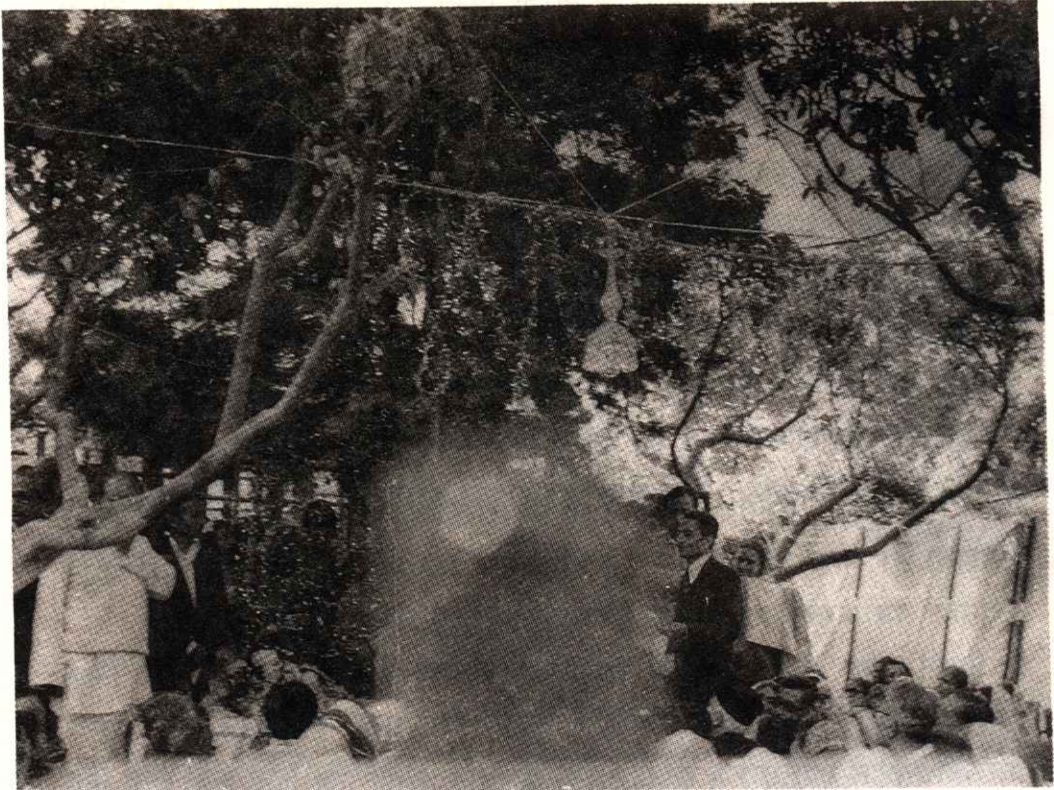
१९८२ में मेरे मन में स्वामी जी के जन्मदिन पर कश्मीर जाने की अत्यधिक इच्छा जाग्रत हुई। कार्यरत रहने से कई वर्षो से जा नहीं पाया था। मन में ऐसी तीव्रइच्छा कि अगर जा पाऊँ तो खुशी के मारे नाच उठूँ। उन्हीं की कृपा से कार्यक्रम बन पाया एवं जन्मदिवस की सन्ध्या में ईश्वर आश्रम में भक्तजन स्वामी जी के समक्ष कविता पाठ कर रहे थे कि, अचानक स्वामी जी बोल उठे—''अशोक कहाँ है, उसे बोलो भांगड़ा नृत्य करे।'' आनन्द विभोर होकर भांगड़ा हुआ। मनका संकल्प पूरा हुआ।

गुरुदेव की स्मृतियों को अब भी हमारा परिवार अपनी सब से बड़ी निधि समझता है। आज भी मन करता है कि उनके आगमन की प्रतीक्षा का वह मधुर अनुभास का अवसर फिर मिले। जय गुरुदेव !!

• • •

विदेशिचित्तहारकम्,
सुरम्य दृश्य शोभितम्।
'कश्यपमीर' गर्वितम्।। इदं हि॰।।





समाधिस्थ शिव स्वरूप स्वामी लक्ष्मण जू महाराज



जय गुरुदेव

उषा त्रेहन
लक्ष्मणनिलय, फरीदाबाद

हमारे परम पूज्य ईश्वर-स्वरूप साक्षात् शिव स्वरूप में प्रगट हुए। हम सब परिवार को सही मार्ग पर चलाने वाले, पग पग पर दुःख सुख में सँभाल करने वाले, परम पूज्य गुरु श्री लक्ष्मण जू महाराज आपके श्री चरणों में शत शत कोटि प्रणाम।

वैसे तो उच्च कोटि के संतों व महापुरुषों का मिलन व दर्शन बड़े सौभाग्य से होता है। परन्तु गुरु रूप में ऐसे उच्च कोटि के संत का मिलन न जाने किस किस जन्म के पुण्यों का फल कहें या अकारण इन सिद्ध गुरू चरणों की कृपा कहें ! कमला बहिन जी तो छोटे पन से ही इनकी छत्र छाया में पल रहीं थीं, परन्तु जब से मैं इस परिवार में आई तो समय समय पर इनके दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त होता रहता था। इनके हर जन्मदिन पर श्रीनगर जाना और जन्म उत्सव का आनन्द लेना बड़ा सुखदाई लगता था। हमारे घर व इनके घर का बहुत बड़ा अहाता एक ही था। केवल बीच में एक दीवार ही थी, जिसमें इधर उधर आने जाने का रास्ता रखा हुआ था। हमारे घर के अहाते में ही टैंट लग जाते थे। जहाँ बैठ कर उस दिन हजारों आदमी सुबह से ले कर शाम तक खाना खाते थे। फिर पूज्य स्वामी जी हमारी कोठी के बरामदे में बैठ कर अपने हाथों से प्रसाद बाँटते थे। उत्सव की चहल पहल हफता भर चलती। दूर दूर से इन के भक्तजन जन्म दिवस का आनन्द लेने के लिए वहाँ एकत्रित होते, जो कि बड़ा भारी मेले का रूप लगता। मिठाई की व और कई किस्म के खिलौने आदि की दुकानें वहाँ लग जातीं। एक दिन कमला बहिन जी से बोले, ''कमला! तुम्हारा यह घर तीर्थ स्थान बन गया है।''



एक बार हमारे पूज्य श्री महाराज जी वृन्दाबन वाले श्री पूज्य बाल कृष्णदास जी महाराज, अपने प्रिय शिष्य ठाकुर घनश्याम जी व सुश्री कुसुम जी के साथ जन्म दिवस पर पधारे। जहाँ दो सिद्ध संतो का मिलन हुआ वहाँ के सुख का क्या कहना। इन महापुरुषों का जन्म ही हम जैसे संसार में भटके जीवों के सुधार के लिये व सही मार्ग दिखाने के लिए ही होता है। इन महान हस्तियों के लिये हम क्या लिख सकते हैं। बस इतना ही कह सकते हैं कि इन्होंने हमारे पूरे परिवार की समय समय पर दुःख सुख में पूरी सँभाल की व हमें सही मार्ग पर चलने का आदेश दिया।

एक बार यह दिल्ली-पटेल नगर हमारे घर पधारे। मैनें इन से बोला, ''महाराज जी मेरा क्या होगा। कुछ भी तो पाठ भजन नहीं हो रहा।'' तो कहने लगे "Don't worry I am with you." शरीर से तो वह अब हमारे सामने नहीं हैं। परन्तु उनकी उपस्थिति का अनुभव हर समय रहता है। जैसे कि उठते बैठते अन्दर बाहर आते जाते वह हमारे संग संग ही हैं। उनका कृपा भरा आशीर्वाद सदैव सदैव हमारे सर पर है।

हमारे पूज्य माता जी व पिता जी (सास व ससुर जी) को बड़े सम्मान की दृष्टि से देखते थे। वे भी इनको अपने घर का एक सदस्य ही समझ कर घर की सब बात खुल कर कहते थे। इन्होंने पूज्य पिता जी के कहने पर ही जहाँ इनका मकान काफी ऊँची चढ़ाई पर था, नीचे हमारे अहाते में ही मकान बनवाया।

पूज्य देवी शारिका जी व प्रभा जी हमारे पूज्य गुरुदेव की अनन्य भक्त व शिष्या थीं। हर समय इनकी सेवा में रहने का सौभाग्य इनको प्राप्त था। पूज्य देवी जी का अन्तिम संस्कार सब गुरु जी के कर कमलों से ही सम्पन्न हुआ। इससे बढ़ कर गुरु-कृपा और क्या होगी ? एक जन्मोत्सव में गुरुदेव प्रातः समाधि



अवस्था में अपने अहाते में अपने शिष्य जनों के साथ बैठे थे, अहाता खचा खच भरा था। मेरे सबसे छोटे son-in-law, हरीश चड्डा, ने इनका फोटो ले लिया। जब दूसरे तीसरे दिन फोटो तैयार हो कर आई तो सब इतने अचम्भित हुए कि इसे देखते ही रह गये। पूज्य गुरुदेव की जगह पूरा शिव लिंग बना हुआ था। साक्षात् शिवस्वरूप का असली रूप प्रगट हुआ। इन गुरु रूप भोलेनाथ के चरणों में हमारा शत् शत् बार प्रणाम् ।।

• • •

अनन्याचिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषामनित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम।।
(श्री गीता जी)

• • •

क्षीरसागरतरङ्गशीकरा सारतारकितचारुमूर्तये।
भोगिभोगशयनीयशायिने माधवाय मधुविद्विषे नमः।।

• • •



श्री ईश्वर स्वरूप

योगेन्द्र तिक्कू
पड़पड़ गंज, नयी देहली

परमात्मा की असीम अनुकम्पा तथा अनेकों जन्मों के सुकर्मों का योग ही है, जो मुझे परम पूज्यनीय, परम वंदनीय, प्रातः स्मरणीय श्री ईश्वर स्वरूप जी का सान्निध्य शैशव काल से ही प्राप्त हुआ। मम गुरुदेव, नीरज चरणा, देवी शारिका जी से पारिवारिक सम्बन्ध होने के कारण, इस जगत में मेरी आँख खुलते ही, प॰ पू॰ श्री ईश्वर स्वरूप जी को मैंने अपने जीवन में पाया। उनकी लीलाऐं देखीं। उन्हें विभिन्न रूपों में देखने का अवसर परमात्मा ने प्रदान किया।

माघ का मास था। मैं प्रयाग राज में अपने परिवार के साथ रहता था। पता चला कि माघ मेले में स्नान करने हेतु प॰ पू॰ ईश्वर स्वरूप जी, परम वंन्दनीया देवी शारिका जी तथा देवी प्रभा जी के साथ प्रयाग आ रहे हैं। मेरी दादी जी ने बताया कि वह सब हमारे ही घर को पवित्र करेंगे। मैं तब लगभग बारह वर्ष का बालक था। घर में छाये आनन्द के वातावरण में, मैं भी हर्ष से साराबोर था।

प॰ पू श्री ईश्वर स्वरूप जी पधारे। घर का प्रत्येक सदस्य उन्हें श्री कृष्ण की भाँति, अपने ही निकट अनुभव कर रहा था। यहाँ तक कि मैं भी जब स्कूल से लौटता था तो वह मुझसे, स्कूल की पढ़ाई तथा अन्य बातों के विषय में विस्तार से पूछते थे। उन्हीं दिनों, मुझे याद है कि एक बार स्कूल के एक नाटक में मैं कृष्ण की भूमिका निभा रहा था। मैंने परम पू॰ श्री ईश्वर स्वरूप जी को भी इस नाटक के विषय में बताया। उन्होंने मुझसे कहा कि वह भी मुझे पूरी ड्रेस में देखना चाहते हैं। अतः मैं शाम को स्कूल से, नाटक समाप्त होने के पश्चात् पूरे मेकअप में, कपड़े तथा मुकुट के साथ ही घर वापस आया। वह मुझे देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए और आशीर्वाद दिया।



उन्हीं दिनों में कुछ दिन बाद शिवरात्रि आई। इससे अधिक सौभाग्य की कल्पना भी करना कठिन है कि उस शिवरात्रि की पूजा हमारे घर में स्वयं शिव स्वरूप परम पू० श्री लक्ष्मण जू महाराज ने ही पूर्ण विधिवत् की तथा सम्पन्न करके वह सर्व सम्पन्न मोक्ष दाता हँसकर बोले, ''लाओ भाई, ब्राह्मण की दक्षिणा दो।'' उधर बड़ों के साथ थी ये ठिठोली और इधर हम बच्चों के साथ वह उन दिनों कौड़ियों (सीपियों) का खेल भी खेला करते थे। कभी चुपके से हमारी कौड़ियाँ खिसका कर अपनी कौड़ियों में मिला लेते थे और फिर शोर मचाने पर वह भी हँसकर हमारे साथ बाल-स्वरूप बन शोर करते थे।

सन्ध्या होते ही हम सब बड़े छोटों को बिठा कर स्तुति-चन्द्रिका इत्यादि का पाठ करवाया करते थे। इस प्रकार ये शिक्षा देते थे कि गृहस्थ में रह कर भी अपने कर्त्तव्य पूरे करो, हँसो खेलो, परन्तु उस परमेश्वर का स्मरण करते रहो, जो स्वयं जगतस्वरूप है।

उन दिनों सच्चे अर्थों में तो ज्ञान, कर्म तथा भक्ति का अभूतपूर्व त्रिवेणी संगम तो हमारे ही घर में परम पू. श्री ईश्वर स्वरूप जी के रूप में विद्यमान था।

उनके जलज चरणारविन्द में मेरा शत् शत् नमन्।

• • •

कश्पपस्य प्रियं पुत्रं लक्ष्मणं दिव्यलक्षणम्।
शैवर्शनमर्मज्ञं वन्देऽहममरं सदा।।

— डॉ. बी. एन. कल्ला



हर स्थिति में मस्त



महान विभूति

राधा चड्ढ़ा

वृन्दावनम, फरीदाबाद

हमारे श्री गुरू महाराज ईश्वर स्वरूप, स्वामी जी की श्रद्धांजलि को शब्दों में बाँधना कठिन कार्य है। उनसे हमारा करीब ५० वर्ष तक का परिचय रहा है। बचपन से हम, अपनी कमला बुआ जी के साथ, उनके गुप्त गंगा के आश्रम में जाया करते थे। वहाँ के मन लुभावने वातावरण में अत्यंत आकर्षण था व शांति प्रदायक था मानो इस संसार से अलग ही कोई देव स्थली हो। पीछे तो उन्होंने हमारी कोठी के साथ ही अपना आश्रम बना लिया। गरमियों में जब हम कश्मीर जाते तो नित्य प्रति उनके दर्शन का लाभ मिलता। पूज्य स्वामी जी के जन्म महोत्सव की प्रतीक्षा सारा साल सब को रहती थी, जिसमें देवतागण के भी शामिल होने का आभास मिलता था। एक अपूर्व आनन्द मिश्रित वातावरण में स्वामी जी का आशीर्वाद सब को मिलता।

स्वामी जी अत्यंत कोमल ह्रदय, नवनीत समान, भोले नाथ अकारण ही कृपा करते थे। उनका व्यक्तित्व ऐसा आकर्षक था कि हज़ारों की भीड़ में भी उनका देदीप्यमान मुखारविन्द प्रकट कर देता था कि वह एक महान विभूति हैं। उनके विलक्षण गुण वर्णनातीत है। वह तो साक्षात् शिवरूप ही थे।

हम आपकी कृपा पाने के लायक कैसे हों, यह तो हम जानते नहीं। हे दीन बन्धो ! आपका भवाब्धि कर्णधारक स्वरूप ही हम पर कृपा दृष्टि करे, यही प्रार्थना है। आपकी दया से ही हमारी नैय्या भवसागर से पार हो सकती है अन्यथा नहीं।

आप सर्वसमर्थ, निज इच्छानुसार आज भी प्रकट हो, असंभव को संभव कर सकते हो। जिसका आपने वचन भी दिया था। हमारी कर-बद्ध प्रार्थना है।

''प्रसीद प्रभो सर्वभूताधिवासं न जानामि योगं जपं नैव पूजां नतोऽहं सदा सर्वदाशंभुं तुभ्यं। जरा जन्म दुखौघ तातप्यमानं। प्रभो पाहि आपन्नमनमामीश शंभो।।''

• • •



श्राद्धांजलि

गुरुदेव स्वामी लक्ष्मण जी महाराज के चरणकमलों में समर्पित

प्रमोद शर्मा, सिकन्दराबाद

"गुरवो ललितो ऽभेदो भावात्मात्मनि संस्थितः।
वीरेश्वरो वीरभद्रो वीरासनविधिर्विराट्।।

शिवसहस्रनाम के उक्त ५० वें स्तोत्र को मैं १६८८ में कंठस्थ कर रहा था। यह बात राजबाग श्रीनगर की है। मैं राजस्थान से श्रीनगर नौकरी पर आया था। स्तोत्र का अर्थ है—"भगवान् शिव जिज्ञासुओं को गुरू की प्राप्ति कराने वाले, सुन्दर रूप वाले, भेदरहित, सत्स्वरूप आत्मा में प्रतिष्ठित, वीर शिरोमणी, वीरभद्र नामक गणाध्यक्ष वीरआसन पर बैठे अखिल ब्रह्माडस्वरूप हैं।" मुझे संस्कृत का ज्ञान न होने के कारण संस्कृत के इस सहस्त्रनाम का ठीक से अर्थ समझ नहीं आ रहा था। अतः किसी अध्यापक से संस्कृत सीखने की इच्छा जाग्रत हुई। इसी दौरान कश्मीरी मित्रों ने मुझे सलाह दी कि मैं स्वामी लक्ष्मण जी से मिलूँ जो कि एक महान संस्कृतपण्ड़ित व कश्मीर शैविजम की बड़ी हस्ती हैं।

उक्त सन्दर्भ में एक रविवार को मैं निशात बाग के पास स्थित ईश्वर आश्रम पहुँचा। खूबसूरत डल लेक के किनारे पर स्थित, चार दीवारी अन्दर शान्त वातावरण में २ मंजिल का एक प्राइवेट मकान था। दो प्रवेश द्वार थे। आश्रम पहाड़ी की ढलान पर था और अन्दर का क्षेत्र तरह तरह के पेड़ पोधों, हरे घास के लान, सड़क व छोटी पगडन्डीयों, संत्सग हाल व एक छोटे से अमृतेश्वर भैरव-मंदिर से सुसज्जित था। २५-३० आदमी व औरतें, आश्रम की देख रेख व सेवा कार्यो में व्यस्त थे। समय कोई दोपहर १२ बजे से २ बजे के बीच का था। एक उदासीन वृद्ध व्यक्ति फिरन डाले हुए, पहाड़ी की एक नुक्कड़ पर खड़े,



इन लोगों का कार्य निरीक्षण करते नज़र में आये। वह स्वामी लक्ष्मण जू जी थे। एक सज्जन ने मेरे आने का मकसद जाना और स्वामी जी को अवगत किया। थोड़ी देर बाद स्वामी जी ने लान के बीच में पड़ी एक आराम कुर्सी ग्रहण की। तुरन्त ही वहाँ उपस्थित भक्तजनों ने अपने सेवा कार्य खत्म कर अपने हाथ पांव धोये व स्वामी जी की कुर्सी के सामने दरियां बिछाकर बैठ गये। स्वामी जी ने लोगों से आम बातचीत की। तदुपरान्त भक्तों ने संस्कृत में अपनी अपनी पुस्तकें निकालीं और कुछ श्लोक सामूहिक तौर से बोलने लगे। वातावरण में दिव्यता व शान्ति छा गई। मैं स्वामी जी को एक निरीक्षक जैसे निहार रहा था, परन्तु तुरन्त ही उनके व्यक्तित्व में चुम्बकिया आकर्षण के साथ-साथ, एक बहुत ही शक्तिशाली आत्मा की उपस्थिति का अहसास करने लगा। इस शक्तिशाली उपस्थिति ने मुझे भयभीत कर दिया कि अगर मैं अपने अन्तःकरण में स्वामी जी के अलावा कोई अन्य विचार लाया तो मेरे लिए ठीक नहीं होगा। मेरे मन ने उन्हे लगातार नमस्कार करने में ही अपनी भलाई समझी। ऐसे शक्तिशाली व्यक्तित्व वाले पुरुष से मैं जीवन में पहली बार मिला था। उस समय मैं ३८ वर्ष का था और पिछले १२ साल से महेश योगी प्रचलित भावातीत ध्यान की साधना करता आ रहा था। स्वामी जी से मेरा यह परिचय था। इस बीच स्वामी जी ने सब भक्तों के साथ मिल कर चाय नाश्ता किया। शाम को स्वामी जी ने अपना दवाइयों का ट्रंक मँगवाया और उसमें से निकाल कर तरह तरह की दवाइयाँ और दवाइयों के खाली डिब्बे, भक्तों में बाँटने लगे। अब तक मैं समझ चुका था कि स्वामी जी एक स्वतन्त्र आत्मा युक्त महापुरुष थे। मालूम पड़ा कि स्वामी जी को १९८२ में दिल का दौरा पड़ा था व उन्हें पेसमेकर लगाया गया था। उसी बीमारी के दौरान इस्तेमाल दवाइयों से बची खुची दवाइयों का यह डिब्बा था। इस स्वतन्त्र बँटवारे में मुझे भी **Gas/Acidity** की **USA Make** गोलियाँ मिली, जिसका मैंने उसी रात इस्तेमाल किया।



३-४ घण्टे के उपरान्त साँझ ढली और भक्तगण स्वामी जी को पाद नमस्कार कर अपने अपने घरों को वापिस रवाना हुए। मैंने भी साहस बटोरा और स्वामी जी को पाद नमस्कार कर, उनसे मुझे अपना शिष्य बनाने का अनुरोध किया। अचानक स्वामी जी का हस्तस्पर्श, मेरे माथे पर विद्युत गति से हुआ और स्वामी जी ने जवाब दिया : "मेरे पास समय नही है।" मेरे पुनः निवेदन पर कि वे मुझे पढ़ने के लिए पुस्तकों की सलाह तो दे सकते हैं तो स्वामी जी ने कहां "तुम अगले रविवार को आओ।" मैंने अगले रविवार का बहुत बेचैनी से इन्तज़ार किया और ईश्वर आश्रम गया। तदुपरान्त हर रविवार ईश्वर आश्रम जाता रहा, जब तक मैं कश्मीर में रहा।

स्वामी जी की २ मुख्य शिष्यायें थीं–सुश्री शारिका देवी जी व सुश्री प्रभा देवी जी। रविवासरीय बैठकों में वो अक्सर संत्सग हाल में भक्त औरतों के साथ बैठी दर्शन में आती थीं। पहली मुलाकात में जब सुश्री प्रभा जी मुझे 'शैविज्म' पर पुस्तकें दिखा रही थीं तो स्वामी जी ने सत्संग हाल में आकर उन्हें शायद पुस्तकों के बारे में कुछ निर्देश दिया और फिर वापिस चले गये। भगवती प्रभादेवी जी आज तक मुझे शैविज्म के बारे में सिखाती आ रही हैं। सुश्री शारिका देवी जी ने मुझसे एक बार बात की और कहा कि, ''बहुत ही अच्छा है कि तुम्हें कम उमर में ही आध्यात्मिक मार्ग में लग्न हो गई है।'' जवाब में मैंने उन्हें कहा कि यह आपकी मेहरबानी है। शारिका देवी जी ने कहा बहुत नम्रता से मेरे जवाब को सुधारा और कहा "नहीं आपको शक्तिपात हुआ है।"

एक बार स्वामी जी ने किसी भक्त से एक श्लोक "उद्यमो भैरवः" का उल्लेख किया और शिव सूत्र पुस्तक मँगा कर श्लोक का अर्थ भी समझाया। प्रभु कृपा से प्राप्त शिवसूत्रों से इस प्रकार मेरा परिचय हुआ और बहुत बाद में अर्थ स्पष्ट हुआ कि "भावातीत चेतना का अचानक पलभर के लिए प्रकट होना



या खुलना ही भैरव या शिव है।" आश्रम में ही रह रहे एक अमेरिकन भक्त, श्री जान, ने बातचीत के दौरान बताया कि "स्वामी जी बहुत ही सुलझे हुए व महाअनुभवी पुरुष हैं और वो उनसे बहुत कुछ सीख रहे हैं।"

अमृतेश्वर भैरव का छोटा सा मन्दिर जो आश्रम के अहाते में स्थित था उसकी दीवार पर बड़े बड़े अक्षरों से लिखा हुआ था कि "माँसाहारी, शराब व सिगरेट पीने वाले अन्दर नहीं आयें।" आज तक भी मैं उस मन्दिर में जाने का साहस जुटा नहीं पाया हूँ। शिक्षा देने का ढंग ही अद्‌भुत था। आश्रम की दीवार पर मोटे अक्षरों से लिखा था "प्रयत्नः साधकः" शिव सूत्र के इस श्लोक का अर्थ है "सहज प्रयत्न मन्त्र जपने वाले साधक का मन्त्र देवता के साथ तादात्म्य करा देता है।"

स्वामी जी से प्रथम भेंट के उपरान्त ही मैं अपने 'स्व' में अचानक दिव्य परिवर्तन होते देखने लगा। स्वामी जी से अजीब सा लगाव पैदा हो गया और शैव शास्त्रों को पढ़ने की लग्न सी लग गई। शैव शास्त्रों में सब कुछ नये ढंग से लिखा था। जब कि यह शास्त्र बहुत पुराने लिखे गये हैं। भगवती प्रभा देवी जी द्वारा यह पुस्तकें मुझे लगातार प्राप्त होती रहीं और मैं उन्हें देर रात तक पढ़ता रहा और मनन करता रहता। यह पुस्तकें पढ़ने पर शिव तुल्य स्वामी जी के प्रति श्रद्धा व प्रेम दिनों दिन बढ़ने लगा। संस्कृत से हिन्दी व अँग्रेजी में अनुवादित यह पुस्तकें स्वयं स्वामी जी व उनके शिष्यों सुश्री प्रभा देवी जी ठाकुर जयदेव सिंह, श्री नील कण्ठ, गुर्टू व अन्य महानुभावों द्वारा लिखी गई हैं। इस स्वाध्याय से धीरे-धीरे मेरा बौद्धिक अज्ञान नष्ट होने लगा।

आश्रम में यह नियम जैसा ही बन गया था, स्वामी जी हर रविवासरीय दोपहर को भक्त जनों के साथ मिलकर कुछ चाय नाश्ता का सेवन करते थे। स्वयं खाने से पहले वे देखते थे कि हर एक भक्त को प्रसाद मिल गया है या नहीं। फिर अपने प्रसाद में से कुछ हिस्सा निकाल कर थोड़ी दूर पहाड़ी से नीचे



फैंक कर, वापिस आकर अपना प्रसाद लेते थे। एक बार एक अमेरिकन भक्त थैला भर कर किशमिश स्वामी जी के लिये भेंट लाया। स्वामी जी ने उसे आदेश दिया कि आधा थैला पास में खाली ज़मीन पर फेंक दो। उसने किशमिश फैलाई ही थी कि कुछ पंछी आकर उन्हें खाने लगे। मैं जब भी कुछ खाने लगता हूँ तो, स्वामी जी का मधुर स्मरण हो आता है।

एक दिन मुझे आश्रम प्रवेश द्वार से अन्दर जाने की इजाज़त नहीं मिली और बताया गया कि अस्वस्थता के कारण स्वामी जी, आज भक्तों को दर्शन नहीं देंगे। चूँकि राजबाग से आश्रम आने के लिए एक दो घण्टे का परिश्रम करना पड़ता था तो दर्शन अभिलाषा से मैं वहीं थोड़ी देर के लिए रुक गया। इसी दौरान एक कश्मीरी युगल को अन्दर जाने दिया गया। ऐसा देख कर, मेरे मन में विचार आया कि स्वामी जी सब भक्तों से समान दृष्टि से व्यवहार नहीं करते। तुरंत ही मन में दूसरा विचार पैदा हुआ कि अगर स्वामी जी वास्तव में ईश्वर हैं तो बाहर आकर दर्शन दें। अचानक स्वामी जी को स्फूर्ति से बाहर की तरफ आते देखा। मैंने जल्दी से उन्हें रास्ते में रोक कर पाद नमस्कार किया। स्वामी जी ने मुझे डाँटते हुए कहा "ऐसा नहीं करते" और वापिस आश्रम में चले गये और मैं घर वापिस आ गया।

जब भी आश्रम गया, मैनें भक्तजनों को आश्रम की सेवा कार्य में व्यस्त पाया। दूसरे भक्तों से ज्यादा परिचित न होने की वजह से मैं थोड़ा अजनबी जैसा महसूस करता था और केवल एक निरीक्षक जैसे खड़ा या बैठा रहता था। एक बार जब आश्रम पहुँचा, स्वामी जी को दूर से ही पाद नमस्कार कर बैठने ही लगा था कि उन्होंने एक भक्त द्वारा निर्देश दिया कि मैं नीचे जाकर काम करूँ। पहाड़ी के नीचे ८-१० कश्मीरी भक्त सफाई इत्यादि कर रहे थे। मैंने भी एक भक्त से झाड़ू लेकर एक छोटा सा हरी घास का मैदान साफ कर दिया। थोड़ी देर बाद अन्य भक्तों जैसे, हाथ पाँव धोकर, स्वामी जी के सामने आकर बैठ गया व ऐसे अजनबीपन खत्म हो गया।



अक्सर भक्तगण स्वामी जी के लिए भेंट रूप से कुछ फल–फूल लाते थे व एक खाली टेबल पर रख देते थे, जिसे स्वामी जी, वहाँ उपस्थित भक्तों में प्रसाद के रूप में बाँट देते थे। एक बार सफेद रुमाल व गर्म टोपी मैंने भी उसी टेबल पर रख दी। स्वामी जी ने कश्मीरी में भक्तों से पूछा कि, ''कौन लाया है ?'' जवाब में जब मैनें कहा कि मैं लाया हूँ तो उन्होंने मुझे अपने पास बुलाया और सफेद रुमाल उन्होंने अपने पास रख लिया व उस ब्राऊन रंग की टोपी को मेरे सिर पर अपने हाथों से पहना दी। टोपी थोड़ी तंग थी अतः उन्हें मेरे सिर पर डालने के लिए थोड़ा सा प्रयत्न करना पड़ा। साथ में कश्मीरी में कुछ कहा। भाषा अज्ञानवश बराबर समझ नहीं पाया परन्तु ऐसा लगा जैसे कहा यह उपाधि तुम को ही मुबारक। वह टोपी आज भी मेरे पास उनकी दी हुई प्रसाद के रूप में रखी है।

फरवरी-मार्च १९९० की बात है। राजनैतिक तनाव के कारण लगभग सब कश्मीरी पंडित कश्मीर छोड़ कर जम्मू–दिल्ली गमन कर चुके थे। आश्रम में ७-८ भक्तगण ही उपस्थित थे, क्योंकि कर्फ्यू में केवल २ बजे से ६ बजे तक की ही ढील थी। मुझे मालूम नहीं था कि मैं स्वामी जी व भगवती शारिका देवी जी के अन्तिम दर्शन कर रहा हूँ। चारों तरफ मारधाड़/कर्फ्यू के वातावरण के बावजूद भी आज स्वामी जी को बहुत ही आनंदित चित्त में पाया। स्वामी जी भक्तों से कश्मीरी में बातचीत करते रहे। उन्होंने बहुत ही मनोरंजक ढंग से सुबह कर्फ्यू में बैंक से लौटते समय आर्मी जवानों द्वारा स्वयं की तलाशी की बात बतायी। सभी आने जाने वाले लोगों को रोक कर आर्मी सिपाही तलाशी ले रहे थे। एक सिपाही ने स्वामी जी को भी तलाशी लेने से पहले "हेन्डसअप" करने के लिए कहा। स्वामी जी ने सिपाही को समझाने की कोशिश की और कहा कि ये एक गुरु हैं और पास के आश्रम में ही रहते हैं। सिपाही कुछ समझा नहीं और उन्हें 'हैन्डसअप' करने के लिए मजबूर किया। पास में खड़े एक बड़े आफिसर ने जो, दोनों का वार्तालाप सुन रहा था, आकर सिपाही को निर्देश



दिया कि "इन्हें जाने दो।" यह बात स्वामी जी कहानी जैसे, इतने रोचक ढंग से सुना रहे थे कि भक्त कर्फ्यू स्थिति भूल कर खूब आनंदित हुए। स्वामी जी ने सब भक्तों से वापिस जाने के साधन की पूछताछ कर उन्हें जल्दी वापिस जाने के निर्देश दिए। मैनें भी जब पाद नमस्कार किया तो उन्होंने प्रेम से कहा- ''भाग जाओ।''

शायद अक्टूबर, १९८९ था जब मैंने स्वामी जी से मुझे दीक्षा देने का एक बार निवेदन किया था। जवाब में स्वामी जी ने कहा था ''अभी समय ठीक नहीं'' और मुझे उनके जन्मदिवस के बाद मिलने को कहा। जन्मदिवस अप्रैल १९९० में आना था। मार्च १९९० में स्वामी जी आश्रम से प्रस्थान कर जम्मू–दिल्ली चले गये। कश्मीर के बिगड़ते हालात के कारण मैं भी २९ March १९९० को श्रीनगर छोड़कर दिल्ली आ गया। तदुपरान्त नौकरी के सिलसिले में हैदराबाद आ गया। स्वामी जी व ईश्वर आश्रम का सर्म्पक न रहा। कहीं दूर बैठे, विलम्ब से खबर मिली कि सुश्री शारिका देवी व स्वामी लक्ष्मण जी ने अपना भौतिक शरीर १९९१ में त्याग दिया।

May १९९३ में सुश्री प्रभा देवी जी से-ईश्वर आश्रम से पुनः पत्र सम्पर्क स्थापित हुआ। तदुपरान्त मेरे अनुरोध पर गुरुदेवी भगवती प्रभा जी ने, दिल्ली में मुझे दीक्षा फल दिया। आश्चर्य जनक बात थी कि दीक्षा स्वामी लक्ष्मण जी की हस्तलिखित थी जैसे की अपने वायदे के अनुसार शरीर छोड़ने पर भी मेरे को दीक्षित कर रहे हों। मालिनीविजयतन्त्र में कहा है कि "ऐसे व्यक्ति जिसने अपने मन को सब विकल्पों और संकल्पों से मुक्त कर लिया है, में ही गुरु ऐसा प्रतिबोध देता है, जिससे व्यक्तित्व चेतना का दिव्य चेतना में समावेश होता है।" परमशिव रूप स्वामी लक्ष्मण जू जी ने इस प्रकार परमेश्वरी भगवती प्रभादेवी जी, मेरी गुरुदेवी द्वारा मुझे अनुग्रहीत किया। गुरुओं के भी गुरु, महागुरु, शिव गुरु की यह जीव तो केवल "जय जय" ही कर सकता है।



करुणा भरे नैंन।



अभय दान देते हुए।



उपदेश सार

शैव सम्प्रदाय जिसका उद्‌गम कश्मीर है उसे त्रिक दर्शन व रहस्य सम्प्रदाय भी कहते हैं। त्रिक दर्शन अद्वैत की कसौटी पर ही परखा हुआ सिद्धान्त रत्न है जो स्वयं भगवान शिव ने, श्री कण्ठनाथ के रूप में प्रकट हो कर दुर्वासा ऋषि को दिया था व गुरूपरम्परा द्वारा स्वामी लक्ष्मण जी ने प्राप्त किया और सुश्री शारिका देवी जी व भगवती प्रभा देवी द्वारा हम सब शिव भक्तों तक पहुँचाया। त्रिक संप्रदाय में किसी भी दीक्षादि कर्म में गुरुदेव को शिवदूती के बिना अधिकार नहीं होता। कुल संप्रदाय में मातृशक्ति का अत्यधिक आदर है, यतः मातृशक्ति बड़ी प्रबल शक्ति है। इसी आशय से कुल संप्रदाय में गुरु को मातृशक्ति का आश्रय लेना पड़ता है। शास्त्रों में भी कहा गया है जो सिद्धि पुरूषों को एक वर्ष में प्राप्त होती है वही सिद्धि स्त्रियों को केवल १२ दिनों में प्राप्त होती है। अतः दूती का साथ होना इस संप्रदाय में नितान्त आवश्यक है। इस रीत्यानुसार भगवती प्रभादेवी जी द्वारा उपदेशित यह शैव ज्ञान-धन यहाँ अन्य साधकों के लाभार्थ बाँटता हूँ।

I. चेतना का सम्राज्य ही तो चारों ओर व्याप्त है। केवल इसका अनुसंधान करना है। यह अनुभव कइयों को ज्ञान द्वारा होता है और कइयों को अभ्यास द्वारा होता है। इसलिए स्वरूप साक्षात्कार के लिए बौद्धिक ज्ञान व पौरुष ज्ञान का होना नितान्त आवश्यक है। बौद्धिक ज्ञान हमें अद्वैत कश्मीर शैव शास्त्रों को पढ़ने से प्राप्त होता है व पौरुष ज्ञान हमें समाधि द्वारा अपने वास्तविक स्वरूप, जो कि पूर्ण चित्त व आनन्द है, का अनुभव करने से होता है।

II. बौद्धिक ज्ञान :

1. 'कश्मीर शैवइज़्म' को त्रिक दर्शन कहते हैं। यह जिन शास्त्रों में दर्शाया गया है उन्हें आगम शास्त्र कहते है। ऐसे ६२ आगम है जिन्हें भैरव शास्त्र, रूद्र शास्त्र कहते हैं जो वास्तव में अभेद, भेद और भेदाभेद तरीकों से इस संप्रदाय

के उपाय मण्डल का वर्णन करते हैं। यह शैव सम्प्रदाय ४ शाखाओं में विभाजित है: कुल शाखा, प्रत्यभिज्ञा शाखा, क्रम शाखा व स्पन्द शाखा जो क्रमशः चैतन्य में रहने का तरीका; अपने स्वरूप की दुबारा पहचान; आत्म ज्ञान की शक्ति साधना द्वारा क्रमानुसार स्थिरता व हृदय स्पन्दन की पहचान का ज्ञान। चर्या-योग। क्रिया तरीकों द्वारा अनुभव कराने के उपाय हैं।

2. अभिनव गुप्त ने तन्त्रलोक में परिपूर्ण परमेश्वर की व्याख्या की हैं। वह कहते है परिपूर्ण वह है जो परिपूर्ण भी हो और अपूर्ण भी हो। उदाहणार्थ समुद्र तब समुद्र है जब उसमें तंरगों की वर्त्ति है और नहीं भी है। पूर्ण वह है जो अपूर्ण भी है।

इस शैव मार्ग में परमेश्वर को परमशिव के नाम से पुकारते हैं। यह परमशिव प्रकाश-स्वरूप है। यह प्रकाश सूर्य आदि प्रकाश जैसे जड़ प्रकाश नहीं है। इस प्रकाश का पारमार्थिक स्वभाव यानी स्वरूप विमर्श है। यह प्रकाश अपना निरीक्षण भी स्वयं करता है जिसे विमर्श कहते हैं। विमर्श को शैव शास्त्रों में बहुत प्रकार से पुकारा गया है, जैसे:

"चित्त, चैतन्य, पराशक्ति, स्वयंउदित परावाक्, स्वतन्त्रता, परमेश्वर, स्वातन्त्र्य, मुख्य ऐश्वर्य, कर्तृता, स्फुरता, सार, हृदय, स्पन्द इत्यादि"

इस प्रकार परमशिव प्रकाश विमर्शमय है। परमशिव विश्वात्मक चेतना व विश्वात्मक शक्ति दोनों है। परमशिव वह आत्मा है जो सब सत्यों का आधार है। प्रकाश को इदम् और विमर्श को अहं कहते हैं।

2. परमशिव का स्वरूप विमर्श रूप चित्त और आनन्द है। यह विमर्श ही उस आलोक पुंज (परमशिव) का सार सर्वस्व हृदय और उसमें प्रवेश पाने का लोकोत्तर सिंह द्वार है। इस विमर्श में पूर्ण जगत जड़ व चेतन, बीज रूप में रहता है। जैसे मयूर के अण्डे की जर्दी में मयूर अपने रंग बिरंगे पंखों सहित सत स्वरूप से रहता ही है। वैसे ही यह पूर्ण जगत परमेश्वर की विमर्श शक्ति में रहता है।



परमेश्वर का स्वरूप ज्ञान-क्रियामय है। इस स्वतन्त्र आत्मनिर्भरता की स्वरूप भूता-पूर्णता-पूर्णकर्तृता की अहम् विमर्शमयी विश्वात्मक स्फुरणा को ही शैव शब्दों में स्वातन्त्र्य, चैतन्य आत्मा इत्यादि नाम दिये हैं। यह विमर्श ही जगत की सृष्टि, स्थिति व संहार का जिम्मेदार है। अहं चेतना को विमर्श कहते हैं। यह किसी चेतनवान की शक्ति है। शिव की स्वातन्त्र्य शक्ति को ही शक्ति कहते हैं। शैव शास्त्रों में शक्ति जगत को कहते हैं और जगत की झलक ३६ तत्वों द्वारा दिखाई गई है। ३६ तत्व जगत का स्वरूप कैसे बना उसका क्रम है। इस विमर्श के फल स्वरूप परमेश्वर अपनी ऐश्वर्य युक्त स्वांतन्त्र्य शक्ति से जगत रूप से विकास में आता है। जगत के ३६ तत्वों के नाम ये हैं :–

(क) शुद्ध तत्व (ख) षट कञ्चुक (ग) अन्तः करण (घ) ज्ञानेन्द्रिय (ङ) कर्मेन्द्रिय तन्मात्र महाभूत

१. शिव	७. कला	१३. प्रकृति	१९. चक्षु	२५. पायू	३१. गन्ध
२. शक्ति	८. विद्या	१४. अहंकार	२०. जिह्वा	२६. उपस्थ	३२.आकाश
३. सदाशिव	९. राग	१५. बुद्धि	२१. घ्राण	२७. शब्द	३३. वायु
४. ईश्वर	१०. काल	१६. मन	२२. वाक्	२८. स्पर्श	३४. अग्नि
५. शुद्धविद्या	११. नियति	१७. श्रोत्र	२३. हाथ	२९. रूप	३५. जल
६. माया	१२. पुरूष	१८. त्वचा	२४. पैर	३०. रस	३६. भूमि

भगवान शिव की शक्ति ही जगत है। शिव और उसकी शक्ति में कोई भेद नहीं दोनों एक ही हैं। प्राकृतिक नियम अनुसार प्रत्येक वस्तु या व्यक्ति अपनी शक्ति को अपने में ही निहित रखे है। जैसे लकड़ी में दाहिका शक्ति गुंफित है। जल में शीतलता का स्वभाव निहित है। ऐसे ही शिव की शक्ति है। इस रूप में शिव शक्ति, राधा कृष्ण, राम सीता के आदर्श हमारे सन्मुख उपस्थित हैं। इसी भाँति प्राणियों में भी अपनी आत्मिक सत्ता के अतिरिक्त साकार रूप में शक्ति के साथ संपर्क रहता है, जिससे वह अपनी मानवीय वृतियों का आदान प्रदान करता है।



चूँकि शक्ति जगत को कहते हैं; अतः जगत में रहकर ही शिव प्राप्ति संभव है। कहा भी है "शक्तयोऽस्य जगत् सर्वं शक्तिमांस्तु महेश्वरः" जहाँ अन्य मतावलम्बी जगत को त्याग कर प्रभु की प्रत्येक स्पन्दमयता का अनुभव करते हुए स्वरूप का पर्यावेषण करते हैं, वहाँ शैवी पारखी जगत में रह कर ही प्रभु की प्रत्येक स्पन्दमयता का अनुभव करते हुए स्वरूप का पर्यावेषण करते हैं, शैव सिद्वान्त के अनुसार हर एक जीव शिव है। शिव ही अपनी स्वतन्त्र इच्छा से जीव बना है। शिव का ही रूप होने से जीव में चेतन शक्ति का होना स्वभाव है। अभिनवगुप्त जी की भाषा में ''शिव एव ग्रहीत पशुभावः।'' शिव ने ही अपने स्वांतन्त्र्य से अपने को जीव बनाकर अनेकानेक उलझनों में फँसा लिया है और जब इन उलझनों को समाप्त करने की धुन लग जाये तो स्वयं इन से पिंड भी छुड़ा लेता है। यहीं इसका स्वातन्त्र्य है। जीव दशा में जब भटक भटक कर बेहाल हो जाते हैं तो फिर अपने ऐश्वर्य का भगीरथ प्रयत्न करके अपने स्वरूप को पा लेते हैं।

विज्ञान भैरव की १३८ वी धारणानुसार :–

मानस चेतना शक्तिरात्मा चेति चतुष्टयम्।
यदा प्रिये परीक्षीणं तदा तद्भैरवं वपुः।।

अर्थात् जीव आत्मा (या अंहकार), उसकी बुद्धि, मन व प्राण शक्ति के अधीनस्थ रहता है। जीव को शिव अवस्था पुनः प्राप्ति के लिए अंहकार सहित बुद्धि, मन व प्राण शक्ति को शिव चैतन्य शक्ति में लय करना आवश्यक है। उक्त चारों तत्वों का शक्ति में समावेश गुरुकृपा से संभव होता है। जीव का तात्विक स्वरूप सत्, चित्, आनन्द है। जहाँ इस जीव को अपने इस सत् चित् आनन्द स्वभाव का साक्षात्कार हो जाये वहीं तत्व दृष्टि से मोक्ष है और इस स्वरूप को भूल जाना अज्ञान है और यही संसार की जड़ है। जिस अवस्था में साधक को ज्ञान रूप क्रिया और क्रिया रूप ज्ञान का स्वांतत्र्य हो वही पारमार्थिक स्वरूप



स्थिति कहलाई जायेगी और यही यथार्थ मोक्ष कहलाया जायेगा। परमेश्वर की स्वातन्त्र्य शक्ति में समावेश ही मोक्ष है। उस पारमार्थिक मोक्षदशा का स्वरूप व्युत्थान और समाधि में एक जैसा रहता है। अहंकार के दो रूप हैं। एक तो पराहन्ता जिसे शुद्ध अहम् कहते हैं। उसी भित्ति में सब विश्वचक्र चल रहा है और दूसरा जीव अहंकार। यह सीमित तथा अपने दायरे में ही चल सकता है।

भगवान शिव की सर्वकर्तृता, सर्वज्ञता, नित्यता, व्यापकता, अनादिबोध और नित्यऽलुप्तशक्ति का संकोच जीव में हो जाता है और वह किञ्चित कला, सीमित विद्या, काल, परिमित देश के साथ राग, किञ्चित ज्ञान और सीमित नियति में परिवर्तित हो जाते हैं। यह तो भगवान ने जीव को निर्वाह करने के लिए बना रखा है। यह न हो तो जीव समय कैसे व्यतीत करे।

ज्ञान और क्रिया-शक्ति, जीव में जानना और करना है। शिव दशा में (परमशिव को) भूत, वर्तमान और भविष्य का ज्ञान एक बारगी रहता है और क्रिया शक्ति से वे उदाहरणार्थ भूचाल से भूधरों को भी हिला कर रख देते हैं।

शिव के सर्वव्यापक होने से उनके अन्तःकरण न होकर स्वातन्त्र्य शक्ति ही पर्याप्त है। शरीर होने से इसे सीमित ही रहना पड़ता है।

शिव कला और जीव कला में तिल ताड़ का अन्तर तब तक है जब तक जीव अपने स्वात्म स्वरूप का पर्यावेक्षन न करें। प्रत्यभिज्ञा (स्वरूप ज्ञान) हो जाने पर भी शरीर के होने से इसे सीमित ही रहना पड़ता है।

५. शास्त्र तो दीपक का काम करते हैं। दीपक से जो ही वस्तु जाननी है उसे जानना है न कि दीपक को ही हाथ में लिए घूमना है। कहा भी है "तत्वज्ञस्य तृणं शास्त्रम्" – तत्व ज्ञानी के लिए शास्त्र तिनके के समान हैं।

III. पौरुष ज्ञान :

१. जब कोई व्यक्ति अपना वास्ताविक स्वरूप जो कि पूर्ण सत्, पूर्ण

चित्त व पूर्ण आनन्द है, का अनुभव समाधि द्वारा करने का तरीका जानता है तो उसे पौरुष ज्ञान कहते हैं। जब किसी व्यक्ति के पास पौरुष ज्ञान है तो वह अपना वास्तविक स्वरूप पूरी तरह से जानता है। यह तरीका गुरुजनों से दीक्षा द्वारा प्राप्त होता है।

२. स्वयं में रहने का, अपनी ओर देखने का अभ्यास करते रहना चाहिये। अपने स्वभाव का निरीक्षण करते रहना चाहिये। यह ही सजगता है। इसी में कल्याण निहित है। सावधान रहने की आदत डालनी है। एकाग्रता होना ही सर्वोपरि है। और यह ही अभ्यास है। "स्वस्मिन् स्थितः इति स्वस्थः"। मन की स्थिति ही स्वास्थ्य है। मन तो जीव से जुड़ा हुआ है। अपने स्वात्म राम में रमे रहना चाहिये, सतर्कता के बल पर। प्रभु सब को स्वस्थ रखे, अपने में केन्द्रित करें। ''जितं जगत् केन मनो हि येन।'' मन के जीते जीत है मन के हारे हार। मन का स्थैर्य बनना ही पारमार्थिक प्रथम सोपान (सीढ़ी) है। यही सफलता की चाबी है। सो जहाँ तक हो सके अभ्यास परायण रहना चाहिये। आगे जो देव करायें। अभ्यास करने से जो स्थिति प्राप्त होगी वही तो शक्तिपात है। वास्तव में शक्तिपात प्रत्येक प्राणी के भाग्य में बँधा नहीं होता। अभ्यास ही सर्वोपरि है। शुभ कार्य जैसे कि भजन, पूजा करनी, कीर्तन, गरीबों की सेवा, शास्त्र पढ़ने, सुनने आदि से अन्तःकरण शुद्ध होते हैं और अभ्यास करना सहज हो जाता है।

स्वात्मा की पूजा, अपना अनुसन्धान बनाये रखने से ही सिद्ध होती है। भगवान् के चरणों (प्राण-अपान) का अनुसन्धान रहने लगे अन्य बाह्य क्रियाएं शनैः शनैः शिथिल हो जाती हैं। प्राण और अपान तो जीवकला से संबन्धित हैं। जब तक जीव कला है तब तक सकल्पों को उभारने का नाटक करना पड़ता है। "उमा राम मय सब जग जानी" यह अनुसंधान रहे तो जीव कला स्वतः शिव रूप धारण करेगी। जीव का लगाव अपने अनुसंधान से रहना चाहिये। फिर कोई भी विषय हो उसका भोग तो करना ही है।



४. पौरुष ज्ञान प्राप्ति हेतु जप करना भी एक उपाय है। जप तीन प्रकार से किया जाता है। मानसिक, वाचिक और उपांशु। मुमुक्षु साधक के लिए उत्तम जप मानसिक ही है। यह प्राणों के साथ माला पर गुरू विधि द्वारा किया जाता है। माला को थैली में रख कर, मन्त्र के साथ मनको घुमाना चाहिये। माला को छुपा कर रखने में ही सिद्धि है। मन्त्र उच्चारण तो वाचिक जप है तथा उपांशु जिस जप में होंठ व जीभ हिलते हैं। मन्त्र जपने से निर्विकल्पता का अनुभव होता है, इसलिए उसे विकल्प नहीं कहते। मन्त्र आराध्य देव का साक्षात्कार कराने में सहायक होता है। तन्मयता से भगवत् नाम का स्मरण करना चाहिये। वाल्मीकि जी ने विमर्श परायण हो कर "मरा मरा" कहा था, उन्हें उसी से सरस्वती का अनुग्रह हो गया था।

जीवं को संशयों के जाल से छूटना है। जीव को कल्पनाओं के जाल में नहीं उलझना चाहिये। यह तभी होगा जब अहोरात्र ध्यान अपने लक्ष्य की ओर रहेगा। सभी जीवों को निःसंकल्प अवस्था प्राप्त करनी है। विमर्श परायण रहना ही अभ्यास है। इसी को विकल्प क्षय कहते हैं।

५. जीव को वास्तविक दुःख जन्म-मरण के चक्र में पिसे जाने का ही है। उत्पल देव जी की भाषा में सुख की परिभाषा भगवान के साथ मिलाप होना है और दुःख भगवान का विरह है। एक सच्चे साधक के लिए इससे बढ़ कर दुःख ही क्या हो सकता है। कौल साहब ने इसका हिन्दी ऐसे किया है–"नाथ तेरा संग ही तो सुख है, तुझ से जुदा रहना ही तो दुःख है।'' जीवन की सार्थकता अध्यात्म मार्ग का अनुसरण करने में ही है। भक्ति पिपासा ही पारमार्थिक संबल है। स्वामी लक्ष्मण जू कहा करते थे कि तुमने वैराग्य नहीं करना है, प्रभु का राग बढ़ाना है। वेदान्तियों के त्याग को समक्ष नहीं रखना चाहिये, प्रभु से राग बढ़ाने का प्रयत्न करो। तभी सफलता होगी। वैसे प्रभु के साक्षात्कार करने में

भी जीव पुरुषार्थ साथ नहीं देता। कहा है – "यमेवेष वृणुते तेन लभ्य:" सभी पुरुषार्थ उस प्रभु को समर्पण करिये, तब शुभ कामना सफल होगी। कोई भी भोग हो साधक का कुछ नहीं बिगाड़ सकते यदि उसे तीव्र वैराग्य की भावना हो।

अन्त में यहीं कहूँगा कि गुरु कृपा का आश्रय होना चाहिये व गुरु कृपा सदा सभी पर बनी रहनी चाहिये। गुरुदेव के अनुग्रह से विकल्प मालाओं की इति हो जाती है।

• • •

न देशो नो रूपं नच समययोगो न परिमा,
नचानोन्या संगो नच तदपहानिर्न घनता।
नचावस्तुतत्त्वं नच किमपि सारं निजमहो,
ध्रुवं मोहाशाम्येदितिनिरधिशतदर्पणविधिः।।

(तं॰ तृतीयमाह्निकम्)



जय गुरुदेव

लीला भान
साऊथ एक्सटेन्शन
पार्ट-II-16

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः, गुरुः साक्षात् महेश्वरः।
गुरुरेव जगत्सर्वं, तस्मै श्री गुरवे नमः।।

मैं धन्य हूँ कि मुझे समर्थ सद्‌गुरु स्वामी ईश्वर स्वरूप (लक्ष्मण जी रैना महाराज) की छत्र छाया में बैठने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। आज मुझे आदेश मिला है कि मैं उनके चरणों में कुछ अपने श्रद्धा सुमन अर्पित करूँ।

उन पूर्ण पुरुष के विषय में, कुछ भी कहने का मैं साहस या योग्यता कहाँ से लाऊँ। आदेश का उल्लंघन भी नहीं कर सकती अतः जो मेरी अल्पबुद्धि से बन पाये, मैं अपना सर्वस्व उनके चरणों में समर्पित करके लिखने का प्रयास कर रही हूँ।

मेरी मां, धनवती धर, उनकी शिष्या थीं। अतः मैं भी उनके साथ बाल्यावस्था से ही स्वामी जी के पास जाती रही हूँ। मेरी माँ ने बचपन में मुझे कहा "यह भगवान हैं", यहीं धारणा मेरे हृदय में अंकुरित हुई तथा मेरे मन में लालसा हुई कि मुझे भी इनका अनुग्रह प्राप्त हो।

एक बार मेरी माँ मुझे, गुरु महाराज के पास ले गईं और उनसे मेरे मन की बात कह डाली। मेरे गुरू महाराज दयालु थे। उसी समय कृपा की और मुझे आश्रम के एक किनारे में ले जाकर मुझे कहा "जाओ पानी का एक लोटा ले आओ।" मैं पानी का लोटा ले आई और उन्होंने मुझे वहीं पर दीक्षा दी। यह मेरे जीवन का स्वर्ण अवसर था। इसके पश्चात् भी कई बार और कई बातें बताईं और मेरी समस्याओं का समाधान किया।

उनकी महानता के बारे में लिखना असंभव है। गागर में सागर भर लेने की बात है। इस अवसर पर मैं अपनी अनेक स्मृतियों में से कुछ-कुछ वर्णन करूँगी।

मेरे समर्थ सद्-गुरु महाराज अजर अमर हैं, अनादि अनन्त हैं, अन्तर्यामी हैं, दयालु हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वोपरि हैं, सर्वशक्तिमान हैं, सर्वव्यापी हैं, दीनबन्धु हैं, दीनानाथ हैं शरणागत वत्सल हैं। करूणा सागर हैं। सब कुछ हैं।

जब भी मेरे ऊपर कोई संकट आया उन्होंने स्वयं ही उसका निवारण किया। कभी भी मुझे उनसे कहने की आवश्यकता नहीं पड़ी। मुझे तो सदा बिन माँगे मोती ही मिले। इतने दया सागर है, मेरे गुरु देव, माँगनेवाले का दामन ही छोटा है। वहाँ कोई कमी नहीं।

अमेरिका से आने के पश्चात् जब वह श्रीनगर जाने वाले थे, मैं उनके दर्शन करने के लिए उनके एक परम शिष्य, संवित प्रकाश जी के घर गई। डरते-डरते मैं उनके कक्ष के द्वार पर खड़ी रही। उन्होंने मुझे देखा और हाथ से संकेत किया, अन्दर आने के लिए। मैं एक दम अंदर गई, प्रणाम किया और द्वार के समीप बैठ गई। उन्होंने मुझे बुलाकर अपने पास बैठने को कहा। मेरे परिवार के सब सदस्यों के बारे में पूछा। मेरे मन में एक संकल्प था परन्तु मैं उनसे कह न पा रही थी। अन्तर्यामी प्रभु ने बार बार पूछा, ''कुछ कहना है?'' मेरे होठों पर ताला जैसे लग गया। कुछ न कह सकी। केवल दो शब्द कहे, मैंने कहा ''महाराज आपकी दया है।'' ''दया तो है और कुछ कहो'', उनके शब्द थे। मैंने कहा कि ''आपकी दया है तो मुझे सब कुछ मिल गया।'' उसके आगे क्या बताऊँ। एक बार की बात हो तो कहूँ। बार बार मेरे साथ ऐसे ही हुआ और अब भी होता है।

उनकी दिव्य लीलाएँ कोई कहाँ तक कहे। कई बार हम उनके साथ श्रीनगर के कई दर्शनीय स्थानों पर भ्रमण करने गए। वह स्मृतियाँ तो कुरेदी हुई हैं मानस-पटल पर। उनके साथ वृन्दावन, मथुरा, बरसाना, गोकुल, वैष्णो देवी, क्षीर भवानी, हारी पर्वत, शंकराचार्य पर्वत और भी कई स्थलों पर गए। दाछी



गांव, शंकर पल आदि स्थान भी उनके साथ देखे। कैसा आनन्द मिला, अनमोल तथा अद्वितीय रहा। लिखने लगे तो –

असित गिरिसमं स्यात्कज्जलं सिंधुपात्रे
सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति।।

गुरु महाराज, मार्बल नामक, नदी के किनारे एक घर में रहते थे। वहां भी मैं अपनी मां के साथ गई हूं। मुझे याद है वहां कालीन बनाने का कारखाना था, उसी के बीच से जाकर स्वामी जी के कमरे तक जाते थे। उनके माता और पिता के भी मैंने दर्शन किए हैं। उनकी बड़ी बहन 'सौंपकुजी' जी उनके बाल्यावस्था की कहानियां सुनाती थीं। सुनकर बड़ा आनन्द आता था।

मेरे पति सेना में नौकरी करते थे। चार साल हम बादामी बाग छावनी में रहे। वहाँ कई बार स्वामी जी हमारे घर आए। उन दिनों उनके पास एक टेलीफोन का यंत्र था, उसकी तार वह टेलीफोन लाइन में डालकर, जहाँ मर्जी हो बात करते थे। मुझे भी रोज़ प्रातः टेलीफोन करते थे। पूछते थे, ''पूजा की। क्या करती हो ?'' इतने दयालु थे मेरे गुरुदेव ! मेरे जैसे एक साधारण, मंद बुद्धि वाले जीव पर इतनी दया, भगवान ही कर सकते हैं, एक साधारण मानव नहीं। यदि मुझे सहस्र जिह्वायें भी मिलें तब भी उनकी महानता और गरिमा का वर्णन करना सम्भव नहीं। मेरी समझ में नहीं आता मैं क्या बताऊँ और क्या नहीं।

उनकी परम शिष्या, देवी शारिका जी तथा प्रभा जी के बारे में थोड़ा सा कुछ कहना आवश्यक है क्योंकि स्वामी जी महाराज शिव हैं और देवी जी शक्ति है। शिव बिना शक्ति नहीं और शक्ति बिना शिव अपूर्ण है। स्वामी जी स्वयं देवी जी की महानता के बारे में बताते थे –

"परभैरवलीन्यै पराशक्त्यै श्रीशारिकादेव्यै नमोनमः"

यह स्वामी जी का ही बताया मंत्र है, देवी जी के लिए। देवी जी की छोटी बहन प्रभा जी के साथ मेरा बचपन का सम्बन्ध है। उनके बड़े भाई और मेरे चाचा परम मित्र थे। उनके दूसरे भाई और मेरे बड़े भाई भी परम मित्र थे। अतः हमारा आपस में आना जाना, मिलना रहता था। एक बार मैं सराफ कदल उनके घर गई थी। हमारी दोनों की अवस्था इतनी छोटी थी कि प्रभा जी को यह ज्ञान नहीं था कि, देवी शारिका जी उनकी बहन हैं। प्रभा जी ने मुझे तथा मेरी चचेरी बहन को कहा "आओ, हमारे घर में एक बाबा जी (साधु) हैं उसे देख लो।'' हम घर के सबसे ऊपर वाले तह में गए, वहाँ देवी जी को एक कम्बल ओड़े, ध्यान में देखा। काफी समय बीत जाने के पश्चात् यह ज्ञात हुआ कि देवी शारिका जी, वही साधु है जिन्हें हम ने बचपन में ध्यानस्थ देखा था।

इनके बारे में एक और स्मृति का वर्णन करूँ। मैं अपनी माँ के साथ स्वामी जी के ईश्वर आश्रम में गई थी, उसके साथ ही देवी जी का मकान था। मेरी माँ वहाँ भी गई। वहाँ जो कुछ मैंने देखा वह मेरे मानस पटल पर अमिट है। देवी जी श्वेत साड़ी में थीं, उनकी गोद में गाय का नवजात बच्चा था। उनके केश नहीं, जटाएँ थीं ।

देवी जी के अन्तर्ध्यान होने पर, स्वामी जी ने जो भी किया, वह एक अपूर्व दिव्य लीला का दृश्य था। जिस जिस ने वह लीला देखी, वे कभी नहीं भूल सकते। उसी से यह भास होता है कि देवी जी क्या थीं, कितनी महान थीं अतः ऐसी महान देवी के गुरु किस स्तर के महापुरुष थे। वे तो स्वयं भगवान शंकर ही इस पृथ्वी पर अवतरित हुए थे। देवी जी भी, माँ भगवती का ही अवतार थीं। ऐसे महानतम संत की गरिमा का वर्णन केवल भगवान ही कर सकते हैं और कोई नहीं। गुरु महाराज और देवी जी तो शिव और शक्ति का अवतार थे।





गम्भीर-मूर्ति-दर्शन



सहज समाधि



जय गुरुदेव।।

लीला भान

अहंतु भगवद्भक्तानां,
तव भक्तानां किंकरः।
अनुग्रहं कुरु मे देव
मोहयस्व न मां प्रभो।।१।।

सद्गुरु हृदयाधीश,
नारायण तनूद्भव।
अरिणिगर्भसंभूत,
मयि दीने दयां कुरु।।२।।

सदानन्दपूर्णवास,
शिष्यरत्न हृदयस्थित।
दिव्यलीला कृते नित्यं,
मयि दीने दयां कुरु।।३।।

करूणावलय सर्वेश,
दीनबन्धु दयानिधे।
सर्वथा शरणं प्राप्ते,
मयि दीने दयां कुरू।।४।।

• • •

मधुर-मुस्कान




जय गुरुदेव

विजयलक्ष्मी दर

मेरी आदरणीय सास धनवती दर थीं। इनके गुरू महाराज स्वनाम धन्य, श्री ईश्वर स्वरूप जी महाराज थे। मैं अपनी सास जी के साथ यदा कदा स्वामी जी महाराज के दर्शन करने जाया करती थी। कुछ वर्षो के बाद ऐसा सौभाग्य हुआ कि, स्वामी जी महाराज ने मुझे भी गुरू मन्त्र देकर अपनी शिष्या बना लिया। मैं जब भी महाराज के दर्शन करने जाती तो, सभी कुछ भूल जाती थी। एक दम निर्विकल्प सी हो जाती थी। जितने भी शारीरिक कष्ट या मानसिक कष्ट होते वे सभी महाराज के दर्शन-मात्र से कुछ समय के लिए समाप्त हो जाते थे।

कई वर्षों की बात है। स्वामी जी महाराज अपने पुराने आश्रम में, जो पहाड़ी के दामन में था, वहीं रहते थे। एक दिन मैं अपनी सास जी से महाराज जी के दर्शन करने के लिए जाने की अनुज्ञा लेने गई। उन्होंने कहा कि इस समय देर हो रही है, कल चले जाना। मुझे दर्शन की तृषा तंग करने लगी। मैं समय का विचार न करके, अपनी एक रिश्ते की बहिन किशनी जी को संग लेकर, वहां जाने के लिए तैयार हो गई। धन्ना जी ने जब हमारी त्वरा को देखा तो, हमारे साथ एक नौकर को भेज दिया। उन दिनों बसों आदि का कोई प्रबन्ध न था। हम तीनों डलगेट तक पैदल चले। तांगा भी कोई न मिला। हम दोनों ने नौकर को तो घर जाने के लिए कहा और स्वयं किशती में बैठकर 'इशबर' की ओर चल पड़ी। किशती वाला मल्लाह अति सज्जन था। उस ने भी हमें रास्ते में यह कहकर सचेत किया कि, रात हो रही है। आप दोनों ने पहाड़ी पर स्वामी जी के दर्शन करने जाना है। सावधान होकर ही जाना। निशातबाग के पास उसने हमारी किशती किनारे लगा दी। जब हम दोनों किशती से घाट पर उतरे तो, हमारे आगे आगे एक कम्बल ओढ़े व्यक्ति चलने लगा। हम दोनों सहमी हुई, उस के पीछे पीछे चल पड़ीं। हम एक घंटे के बाद जब आश्रम के करीब पहुंचीं तो वह व्यक्ति ओझल हो गया। हम ने अनुमान लगाया कि यह स्वयं स्वामी जी



महाराज, हमें मार्ग में रक्षा करने के लिए साथ दे रहे थे। उन दिनों स्वामी जी महाराज का एक सेवक गोपीनाथ था। उसने हमें किवाड़ खोल दिया और स्वामी जी महाराज को हमारे आने की सूचना दी। स्वामी जी दयालु तो थे ही, हमें अपने पास बुला कर पूछा कि, ''इतनी देर से क्यों यहां आये हो ? हमें चिन्ता हो रही थी कि तुम सकुशल यहां पहुंच जाओ।'' वह सब कुछ जानते थे। वहां हम रात को रहे। स्वामी जी महाराज ने प्रेम पूर्वक हम से कहा कि, ''मैं साथ न होता तो तुम क्या करते ?'' ऐसे सर्वज्ञ थे हमारे गुरूदेव। वे सदा हमारी रक्षा करते थे। हम उनके साथ दाछीगाम आदि जगहों में भ्रमणार्थ जाते थे। दाछीगाम में शंकरपल नामक स्थान स्वामी जी को बहुत प्रिय था। इसी 'शंकरपल' के नीचे शिवसूत्र खुदे थे, जिसे हाथ लगाने से ही वसुगुप्ताचार्य को शिव सूत्रों की प्राप्ति हुई थी। इसीलिए हमारे गुरुदेव को यह स्थान प्रिय था।

महाराज जी की प्रधान शिष्या देवी शारिका जी थी उनके प्रति भी हमारा अनन्य स्नेह तथा आस्था थी। वह मुझे अति स्नेह करती थीं। सच पूछो तो वह स्वामी जी की पारमार्थिक शक्ति थीं। इन दोनों महान विभूतियों का शरीर १९६१ में ही शान्त हुआ। फरवरी के प्रारम्भ में देवी जी स्वर्ग सिधार गई और स्वामी जी महाराज उसी वर्ष के सितम्बर में महासमाधि को प्राप्त हुए।

मेरे गुरु महाराज साक्षात् शंकर के अवतार थे। वे सदा मेरे मन में निवास कर रहे हैं। जितना भी उनके लिए कहें, कम हैं। उनकी अपार कृपा से हम सभी काल-यापन कर रहे हैं। मरण पर्यन्त उनकी अनुकंपा बनी रहे। उनकी स्मृति ही हमारा सर्वस्व है।

जय गुरुदेव





ईश्वरस्वरूपं आचार्यं प्रति-

डॉ० बदरीनाथ कल्ला
विस्थापितः कश्मीरी–पण्डितः
फरीदाबाद

आचार्यवर्य ! आगच्छ शीघ्रं ,
छिन्धि मे भवपाशजालम् ,
तारय भवसरपारम्।। छिन्धि मे०.........

सर्पजालैः परिवृतोऽहम् ,
दुष्टदानव कम्पितोऽहम् ,
श्रृणु मे करुणानादम्।। छिन्धि मे०.........

सर्वजनवञ्चितोऽहम् ,
बन्धुजनपरित्यक्तोऽहम् ,
कुरुमयि कृपाकटाक्षम्।। छिन्धि मे०.........

भवसागरब्रुडितोऽहम् ,
नावचालनाशक्तोऽहम् ,
तारय मे वहित्रम्।। छिन्धि मे०.........

पालय शीघ्रं वचनम् ,
मारय दुर्जनसंघम् ,
रक्ष सज्जनवृन्दम्।। छिन्धि मे०.........

उद्धर भारतसंघम् ,
नाशय आतङ्कवादम् ,
वर्षय अमृतमेघम्।। छिन्धि मे०.........



दर्शय संवित्स्वरूपं ,
देहि मे ज्ञानप्रकाशं ,
हर मे अज्ञानजालम्।। छिन्धि मे०.........

वारय रक्तस्य पातम् ,
देहि मे अभयदानम् ,
वादय शान्तिनादम्।। छिन्धि मे०.........

• • •

क्षीरसारमपनीय शङ्कया
स्वीकृतं यदि पलायनं त्वया।
मानसे मम नितान्ततामसे
नन्दनन्दन कुतो न लीयसे।।

• • •

पारश्वस्थो दावदहनो
सिंह पुरुतस्थ लुब्धकःपश्चात्।
इति संकट पतितममां
हरिनंहरिनारि वाहिनी पाहि।।

• • •



कश्यपस्य प्रियं पुत्रं लक्ष्मणं दिव्यलक्षणम्।
शैवदर्शनमर्मज्ञं वन्देऽहममरं सदा।।

शैवदर्शन के मर्मज्ञ, दिव्य लक्षणों से युक्त तथा कश्यप ऋषि के अमर प्रिय पुत्र श्री लक्ष्मण जी को मैं सदा प्रणाम करता हूँ।

राजानक स्वामी लक्ष्मण जी का व्यक्तित्व तथा कृतित्व

डॉ बी. एन. कल्ला शास्त्री
पूर्व संस्कृत प्राध्यापक, कश्मीरविश्वविद्यालय, श्रीनगर

कश्मीर प्राचीन काल से साधुओं, संतों, साधकों, सिद्धों तथा आचार्यों का पुण्य स्थल रहा है। यह पुनीत स्थल 'शारदा पीठ' के नाम से सारे विश्व में विख्यात था। इसका उल्लेख संस्कृत वाङ्मय में यत्रतत्र पाया जाता है। शारदा देवी की कृपा से यहाँ ऐसे साहित्यकार - लेखक, कवि, दार्शनिक, कथाकार, इतिहासकार, आलङ्कारिक आदि पैदा हुए, जिनकी अमर रचनाएं समूचे विश्व को आश्चर्यचकित करती हैं। यहां पर यह कहना असंगत न होगा कि संस्कृत साहित्य की विभिन्न विद्याओं तथा आध्यात्मिक चिंतन को नई दिशा देने वाला यदि कोई क्षेत्र है-वह है कश्मीर, कश्मीर केवल कश्मीर।

कश्मीर की उर्वरा भूमि में प्रकृति के जो सूक्ष्म तत्त्व पाए जाते हैं, वह दुनिया के किसी कोने में नहीं। तभी तो प्राकृतिक संपदा तथा आध्यात्मिक संपदा का समन्वय यहीं पाया जाता हैं। भुक्ति तथा मुक्ति का सिद्धान्त यहां के शैवदर्शन में ही पाया जाता है अन्य षट् दर्शनों में नहीं। इसी विशेषता के कारण शैवदर्शन सारे जगत में लोकप्रिय तथा प्रसिद्ध हो रहा है। फलतः विदेशी विद्वान भी इस दर्शन का अध्ययन करके इस समय इस पर शोध भी करते हैं।

आठवी ं शती से बारहवीं शती का युग 'कश्मीर का स्वर्णयुग' माना जाता है। इस स्वर्णयुग में वाग्देवी के अनुग्रहसे आचार्य वसुगुप्त, सोमानंद, उत्पलदेव तथा आचार्य अभिनवगुप्त जैसे दार्शनिक यहाँ पैदा हुए, जिन्होंने विभिन्न दर्शनों



का मंथन करके ऐसा दर्शन विश्व को दिया जो त्रिक-दर्शन, शैवदर्शन अथवा प्रत्यभिज्ञा दर्शन के नामों से प्रसिद्ध है। इस दर्शन का संप्रदाय आज तक काश्मीर मंडल में वितस्ता के प्रवाह के समान चलता रहा है। उस प्राचीन युग में संस्कृत लोकभाषा थी। यही कारण है कि हमें संस्कृत में ही साहित्यकारों की अमर रचनाएं पाई जाती हैं, अन्य भाषाओं में नहीं।

मध्ययुग में अर्थात् चौंदहवीं शती में मुस्लिम संस्कृति के प्रभाव से संस्कृत को काफी धक्का लग गया। यवनों के प्रायः पांच सौ वर्षों तक शासनकाल के दौरान कश्मीर में फारसी भाषा राज्यभाषा के पद पर आसीन हुई। जिसके कारण संस्कृत के स्थान पर फारसी भाषा का प्रचार व प्रसार उत्तरोत्तर बढ़ने लगा। इनके क्रूर शासनकाल में कश्मीरी ब्राह्मणों को अमानवीय यातनाएं सहन करनी पड़ीं। उनकी निर्मम हत्या की गई तथा उन्हें यदा तदा यवन-धर्म में दीक्षित किया गया। इन अमानवीय घटनाओं का उल्लेख जोनराज तथा श्रीवर ने अपनी-अपनी 'राजतरंगिणियों में किया है। सिकंदर बुतशिकन के समय मंदिरों को भस्मसात् किया गया। इन पाँच सौ वर्षों के शासनकाल में केवल न्यायप्रिय सहिष्णुशील तथा उदारचित्त सुलतान जैन उल्लाब्दीन अथवा बड़शाह ने कश्मीरी ब्राह्मणों के साथ अच्छा व्यवहार किया तथा संस्कृत को पुनर्जीवित कर दिया। उसके बाद परवर्ती यवन शासकों ने पुनः दमन नीति अपनाई। पठान दौर में ब्राह्मणों को मौत के घाट उतार दिया गया, संस्कृत पुस्तकालय जलाए गए। इन अमानवीय यातनाओं से बचने के लिए कश्मीरी ब्राह्मणों ने चल-अचल संपत्ति छोड़ दी और वे अन्य राज्यों में काल यापन करने लगे। इस संकटमय स्थिति को देखकर अवशिष्ट कश्मीरी तीर्थवासी ब्राह्मणों ने तीर्थों की पवित्रता स्थिर रखने के लिए तथा भावी पीढ़ी की जानकारी के लिए 'माहात्म्य' लिखे। इनमें 'वितस्ता-माहात्म्य' सबसे बड़ा माहात्म्य है। इस युग में यद्यपि कट्टर यवन शासकों ने संस्कृत के स्रोत को नष्ट करने की कोशिश की, तथापि वे इस अपवित्र उद्देश्य में सफल न हुए। वैदिक काल से बहता हुआ यह अक्षय-स्रोत वितस्ता के वेग अथवा प्रवाह



के समान अक्षुण्णरूप से घाटी में चलता रहा। इसका ज्वलंत उदाहरण हमें कश्मीर के सुप्रसिद्ध लेखक-क्षेमेन्द्र के 'लोक प्रकाश' से मिलता है जैसे:-''संवत्सरेऽत्रप्रेनापित कदले रैज्जि अमुकेन रैज्जि अमुक पुत्रस्य हस्ते बंगल चीरिका दत्ता, यथा खुज्या अमुक: खुज्या अमुकं प्रति सलाम बन्दगी ददनीयमिति''। इस उद्धरण में हमें फारसी तथा अरबी के शब्द सहज रूप से मिलते हैं। सुलतान युग में संस्कृत को जीवित रखने के लिए संस्कृत के लेखकों ने अपनी उदारनीति के कारण फारसी तथा अरबी शब्दावली को भी संस्कृत में स्थान दिया। ऐसा उदाहरण हमें 'लोकप्रकाश' के अतिरिक्त संस्कृत-साहित्य में अन्यत्र नहीं मिलता है। यद्यपि यवनों के कुशासन में 'शैवदर्शन' की परंपरा का ह्रास हुआ तथापि लल्लद्यद तथा नुन्दऋषि आदि संतो ने संस्कृत से नि:सृत कश्मीरी भाषा के माध्यम से अर्थात् वाखों (सं. वाक्) तथा श्रुक्यों (सं. श्लोक) के द्वारा जन-साधारण तक शैवदर्शन के सिद्धांत पहुंचा दिए। इस तरह शैवदर्शन के प्रभाव से मध्ययुगीन संत-साहित्य अछूता न रहा।

आधुनिक युग में यानी डोगरा शासनकाल में संस्कृत का प्रत्येक रूप में विकास हुआ। इसके बहुमुखी विकास के लिए महाराजा रणवीर सिंह तथा प्रताप सिंह ने अनेक क़दम उठाए। श्रीनगर में 'राजकीय संस्कृत पाठशाला' की स्थापना हुई। 'जम्मू व कश्मीर रिसर्च विभाग' अस्तित्व में आ गया। इस विभाग में देश तथा काश्मीर के लब्धप्रतिष्ठित विद्वानों-श्री जे. सी. चटर्जी, श्री मधुसूदनकौल शास्त्री महामहोपाध्याय मुकुन्दराम शास्त्री, श्री हरभट्ट शास्त्री तथा प्रो. जगद्धर जाडू आदि विद्वानों ने शैवदर्शन के अनेक ग्रंथों का संपादन तथा प्रकाशन किया। इस तरह भारत की गरिमा को विदेशों तक पहुंचाने में इन विद्वानों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

स्वतंन्त्रता के बाद कश्मीर में संस्कृत के उत्थान की ओर सरकार ने तनिक भी ध्यान नहीं दिया। जम्मू व कश्मीर के तत्कालीन प्रधानमंत्री शेख मुहम्मद



अब्दुल्ला ने 'रिसर्च-विभाग' को बंद कर दिया। बाद में कश्मीरी पंडितों के अनथक प्रयत्नों से कई वर्षों के बाद पुनः इसे खोला गया। श्रीनगर में 'राजकीय संस्कृत पाठशाला' बंद की गई। बाद में सरकार की संस्कृत विरोधी नीति को देखकर कई स्वयंसेविनी संस्थाएं संस्कृत के प्रचार व प्रसार के लिए अस्तित्त्व में आ गईं। इनमें 'कश्मीर संस्कृत साहित्य सम्मेलन' तथा 'वैदिक सम्मेलन' आदि उल्लेखनीय हैं। कश्मीर शैव दर्शन की प्राचीन परंपरा को जीवित रखने में जिन संस्थाओं का महत्वपूर्ण योगदान रहा है उनमें फतेहकदल में स्थित 'श्रीरामत्रिक आश्रम', कर्णनगर का 'श्री विद्याधर आश्रम', निशात-ईश्वर में ईश्वरस्वरूप श्री लक्ष्मण जी द्वारा स्थापित 'शैव दर्शन मठिका' आदि प्रसिद्ध हैं। हजारों वर्षों से चलने वाली इस परंपरा को पूर्ण रूप से विकसित करने में श्री स्वामी लक्ष्मण जी की भूमिका महत्वपूर्ण ही नहीं अपितु इतिहास में उल्लेखनीय भी है।

श्री लक्ष्मण जी का शुभ जन्म वैशाख कृष्णपक्ष द्वादशी ६ मई १६०७ ई. को दिन के चार बजे हुआ। इनके माता-पिता श्रीनगर में फतेह कदल के आसपास रहते थे। इनके पिता का नाम श्रीनारायण जी रैणा था और माता का नाम अरण्यमाली। नारायण जी को लोग 'नाव नाराण' कहते थे क्योंकि कश्मीरी पंडितों में सबसे पहले उन्होंने ही नाव का धंधा अपनाया था 'हाऊस बोटों' का निर्माण उन्होंने ही सर्वप्रथम श्रीनगर में किया।

नारायण जी के कुलगुरु श्रीरामजी थे। ये गृहस्थी थे। एक बार अकस्मात् भूचाल के आने से श्रीरामजी का परिवार् मकान के मलबे के नीचे दबकर मर गया, केवल श्रीराम जी बच गए। कालांतर इन्होंने दूसरा विवाह नहीं किया। श्री लक्ष्मण जी के पिता स्वामी रामजी की विद्वत्ता तथा सरल स्वभाव से बहुत प्रभावित हुए थे। अतः नारायण जी ने अपने कुलगुरु को अपने पूर्वजों के मकान में, जो फतेहकदल की सड़क के पास ही था, रहने के लिए आग्रह किया। निदान श्री स्वामी रामजी १८८४ में इस मकान मे रहने लगे। अब यह मकान 'श्रीरामत्रिकाश्रम' के नाम से कश्मीर में प्रसिद्ध है।



श्री राम सिद्धहस्त योगी थे। जिस समय श्री लक्ष्मण जी का जन्म हुआ, उस समय उनके मां-बाप अपने कुलगुरु के पास गए और उनसे प्रार्थना की कि, ''इस बालक का नाम हम क्या रखें ?'' यह सुनकर स्वामी रामजी आनंद विभोर होकर नाचने लगे और उनसे कहा कि, ''मैं राम हूं, इसका नाम लक्ष्मण रखो।'' फिर उन्होंने ऐसा ही किया।

पांच वर्ष की आयु में ही लक्ष्मण जी प्रातः तथा सायं पद्मासन में बैठकर, किसी की खोज में लगे थे। कभी कभी आखें बंद करके ज़मीनपर मूर्छित अवस्था में पड़ जाते थे। शिशु की ऐसी स्थिति को देखकर माता-पिता चिंतित हुए। एक बार वे स्वामी रामजी के पास शिशु को ले गए। वहां भी शिशु की ऐसी ही स्थिति हुई। यह निरीक्षण करके गुरु ने उन्हें परामर्श दिया कि, ''ऐसे समय इनके ब्रह्माण्ड में थोड़ा-सा नवनीत मलना चाहिए। इससे इनकी प्राणवायु स्वयं संचार करने लगेगी। इसमें चिंता की कोई बात नहीं। ये पूर्व जन्म के योगभ्रष्ट हैं। इनका यज्ञोपवीत संस्कार शीघ्र करना चाहिए। उससे इनकी ध्यानावस्था स्थिर हो जाएगी।''

शिशु जब नौ साल के हुए तो पिता जी ने अपने पुत्र का उपनयन संस्कार १९१३ ई० में विधिवत् किया। स्वामी रामजी ने स्वयं यज्ञोपवीत पहनाया तथा गायत्री मंत्र की दीक्षा उन्हें दी। जिस तरह श्री रामकृष्ण परमहंस ने विवेकानन्द की आध्यात्मिक चेतना जगा दी, उसी तरह श्री राम जी के अनुग्रह से श्री लक्ष्मण जी की आध्यात्मिक चेतना के लक्षण अब धीरे-धीरे उनमें प्रस्फुटित होने लगे।

इसी साल श्री नारायण जी ने लक्ष्मण जी को राजकीय विद्यालय में भर्ती कराया। कहते हैं विद्यालय जाते समय यह बालक अपने साथ आसन-पट बैठने के लिए ले जाते थे। जब सभी विद्यार्थी खड़े होकर प्रार्थना करते थे तो ये अपने आसन पर पद्मासन में बैठते थे। प्रार्थना की समाप्ति पर विद्यार्थी अपनी-अपनी श्रेणियों में चले जाते थे। एक दिन इनके अध्यापक ने विद्यार्थी श्री लक्ष्मण जी



से पूछा कि, ''तुमको आंखे बन्द करके क्या दिखाई देता है ?'' विद्यार्थी ने कश्मीरी भाषा में कहा कि मैं 'बड़ि-बोड़' अर्थात् बड़े से बड़े को देखता हूं। यह सुनकर अध्यापक ने उन्हें गले लगाया और इनकी प्रशंसा की, साथ ही उन्हें आशीर्वाद भी दे दिया। इस प्रकार शैशवावस्था में एकाग्रता का यह पहला चरण उनमें दिखाई देने लगा।

तेरहवें वर्ष में मां-बाप ने इनके विवाह के लिए दौड़धूप आरंभ की। समाज में प्रतिष्ठत घरानों की लड़की वालों ने इनके मां-बाप के साथ संपर्क किया। श्री लक्ष्मण जी ने जब यह बात सुनी तो उन्होंने झट अपने माता-पिता से कहा कि, ''मैं आजन्म भीष्म पितामह की तरह ब्रह्मचारी रहूंगा। अतः विवाह करने की बात छोड़ देनी चाहिए। यदि आप मुझे विवाह के लिए बाध्य करेंगे तो मैं घर छोड़कर जंगल की राह ले लूंगा।'' पुत्र की रोषमयी वाणी सुनकर उन्होंने अपने पुत्र की शादी करने की बात छोड़ दी।

इसी वर्ष लक्ष्मण जी के पिता श्री नारायण जी का स्वास्थ उत्तरोत्तर बिगड़ने लगा। उन्होंने अपने पुत्र को पढ़ाई छोड़ने के लिए विवश किया। लक्ष्मण जी ने उस समय आठवीं श्रेणी यानी मिडल की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की थी। पिता की रुग्णावस्था को देखकर उन्होंने अंग्रेजी पढ़ाई छोड़ दी तथा पिता की आज्ञा का पालन किया। उसके कहने के अनुसार अब वे 'हाउस बोट' बनाने के कारखाने में जाकर बढ़ई आदि कर्मचारियों की देखभाल करते थे। साथ ही अपना अभ्यास भी (योगाभ्यास आदि) करते थे। वैसे तो उनका मन इस कार्य में लगता नहीं था। पिता के आग्रह से ही वे इस कार्य में फंसे थे। अंततः उनके मन में किसी योग्य विद्वान से शास्त्र पढ़ने की उत्कट इच्छा प्रकट हुई। उस समय उनके पिता जी कुछ ठीक हुए थे। अपने पिता से उन्होंने अपनी मानसिक इच्छा जाहिर की। पिता जी ने उनकी प्रबल इच्छा स्वीकार कर ली तथा उन्हें श्रीराम जी के आश्रम में ले गए। इस अवधि में श्रीरामजी ब्रह्म में लीन हुए थे।



श्रीराम जी के पवित्र आसन को उनके शिष्य महताब काक जीने उस समय समलंकृत किया था। १६२० ई. में श्री लक्ष्मण जी ने श्री महताब काक से, श्रीमद्भगवद्गीता का अर्थ सहित अध्ययन प्रारंभ किया। कालांतर वे विरक्त होना चाहते थे तथा सत्य की खोज में प्रयत्नशील थे।

१६२६ ई. में वे घर छोड़कर 'सोपोर' मे 'साधु-गंगा' नामक स्थान चले गए। वे वहाँ साधु-गंगा के निर्मल चश्मे के तट पर योगाभ्यास करते थे। इन्हीं दिनों में माता-पिता ढूंढते-ढूंढते उनके पास गए और उनसे घर लौटने के लिए कहा। परन्तु पुत्र ने उनकी बात नहीं मानी क्योंकि ''प्रारब्धमुत्तमजना न परित्यजन्ति''। (आरंभ किए हुए काम को उत्तम लोग छोड़ नही देते हैं) वस्तुतः लक्ष्मण जी स्वतंत्र रूप से अपना शांत जीवन व्यतीत करना चाहते थे। अतः वे मुनियों की तरह एकांत को ही ज्यादा पंसद करते थे। पुत्र के हार्दिक भाव को जानकर, पिताजी ने अपने पुत्र के लिए 'मारबल' नामक स्थान में दो मंजिल का मकान बनवाया। १६२६ ई० में श्री लक्ष्मण जी ने शुभ मुहूर्त्त के दिन 'मारबल' के मकान में प्रवेश किया। बाद में वे स्वतंत्र रूप से वहां रहने लगे। वहां उन्हें नियम पूर्वक व्याकरण आदि शास्त्र पढ़ने की रुचि बढ़ गई। फलतः वे श्रीमहेश्वर राजदान, जो प्रशोधनविद्याविभाग के उस समय प्रधान पंडित थे, उनसे ये शास्त्र पढ़ लिए। तीन वर्ष तक केवल संस्कृत व्याकरण का वहां अध्ययन किया। उसके बाद शैवदर्शन के अनेक ग्रन्थों-परमार्थसार, तंत्रालोक, ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा, शिवदृष्टि आदि का गंभीर अध्ययन किया। इस तरह 'मारबल' में वे सात वर्ष लगातार योगाभ्यास के साथ-साथ अध्ययन करते रहे।

इसी समय श्री जियालाल जी सोपोरी की सुपुत्री शारिका स्वरूप श्री शारिका जी, श्री लक्ष्मण जी के पास योगाभ्यास सीखने के लिए आईं। उन्होंने शारिका जी की दशा देखकर उन्हें राजयोग का अभ्यास सिखाया। इससे पूर्व वह स्वामी मुक्तानंद जी से हठ योग की दीक्षा ले चुकी थी। ये मुक्तानंद जी सन्यासी थे और लाहौर के निवासी परमहसं श्री नारायण तीर्थ के शिष्य थे। शारिका जी

के घर में ये कई वर्षों से आते जाते थे। श्री लक्ष्मण जी ने शारिका जी से हठयोग के विषय में अनुभव पूछा तो उन्होंने प्राणयाम के द्वारा पूर्ण एकाग्रता का अनुभव कहा। श्री लक्ष्मण जी यह जानकर अत्यंत प्रसन्न हुए और उन्होंने शिष्या को जीवन पर्यंत ब्रह्मचर्य पालन करने का आदेश दिया। इन दिनों शारिका जी की आयु प्रायः १५ साल की थी। उन्होंने सहर्ष अपने गुरु की आज्ञा का पालन किया। आजीवन ब्रह्मचारिणी रही। तब से शारिका जी रात के सात बजे से लेकर प्रातः चार बजे तक ध्यान-मग्न रहा करती थी।

रात को वह दिव्य अनुभवों का रसास्वादन अपने गुरु की कृपा से करती थीं। कुछकाल के बाद श्री लक्ष्मणजी ने ईश्वर पर्वत की उपत्यका में भूमि खरीदी। शारिका जी के पिता ने भी लक्ष्मण जी के कहने के अनुसार अपनी पुत्री के लिए उनके समीप ही जमीन खरीदी। प्रायः एक वर्ष तक आमने-सामने दो सुंदर मकान बनाए गए। १६३४ ई॰ में गुरु तथा शिष्या ने विधिवत् यज्ञ करने के बाद अपने-अपने मकानों में रहना प्रारम्भ किया। यहां नियम पूर्वक अभ्यास तथा शैवदर्शन के अध ययन-अध्यापन का काम चलता रहा। वहां वे दोनों गुरु तथा शिष्य योगाभ्यास करने के बाद आध्यात्मिक अनुभवों का आनंद लेने लगे। श्री लक्ष्मण जी के दिव्य गुणों की चर्चा समाज में होने लगी। उनकी आध्यात्मिकता तथा विद्वता से प्रभावित होकर भक्त दूर-दूर स्थानों से उनके पास आने लग गए। उनका क़दावर शरीर, विशाल ललाट, इंद्रधनुष के समान भौंहे, कुन्द पुष्प के समान दांत, गौरवर्ण, किसको चुम्बन की तरह आकृष्ट नहीं करता था? योगाभ्यास अब वह रात दिन करते थे। जिस मकान में लक्ष्मण जी रहते थे। उसका नाम 'ईश्वर आश्रम' रखा गया। शारिका जी अपने गुरु को ईश्वर-स्वरुप कहा करती थी। इसलिए आश्रम का नाम 'ईश्वर आश्रम' ही रहा। वस्तुतः 'ईश्वर आश्रम' साक्षात् ईश्वर का आश्रम ही है।

अंत में वह संतों महात्माओं तथा गृहस्थियों का केंद्र बना। १६४० ई॰ में श्री लक्ष्मण जी निशात के ईश्वर-आश्रम से फतेहकदल में स्थित 'मारबल' के



मकान में आकर चार मास के लिए मौनव्रत में रहे। एक दिन रात को वहां उन्हें योगाभ्यास करते-करते षट्-चक्र भेदन का प्रत्यक्ष रूप से अनुभव हुआ। श्री लक्ष्मण जी ने बाद में अपनी प्रियशिष्या शारिका जी को कहा कि यह चक्र बहुत आराओं से युक्त है। एक चक्र के चलने के साथ ही दूसरा, तीसरा, चौथा, पांचवा तथा छठा क्रमानुसार चलने लगता है। कई योगियों को तो पहले मस्तक में स्थित चक्र ही चलते लगता है तब नीचे के चक्र चलने हैं। इस षट्चक्र भेदन को शास्त्रों ने 'पैशाच' आवेशका नाम दिया है। यह दशा योगी के लिए विघ्नों का सूचक है। वास्तव में मूलाधार से ऊपर की ओर षट्चक्र भेदन का होना अणिमादि अष्टसिद्धियों की प्राप्ति का सूचक होता है। दिव्यानंद में आकर स्वामी लक्ष्मण जी ने स्वयं इस दशा का अनुभव किया था।

१९४६ ई. में स्वामी जी मौनव्रत में थे। उन्हीं दिनों स्वामी जी को अपने दूसरे गुरु श्री महताब काक के स्वर्ग-गमन का दुःखद समाचार मिला। अलौकिक व्यक्ति होकर भी वे लौकिक व्यक्ति की तरह उस समय रोने लगे। उनके दाह संस्कार तक वे श्मशान घाट पर ही रहे। अपने गुरु के प्रति अनन्य श्रद्धा होने के कारण उन्होंने श्री महताबकाक का और्ध्वदैहिक कर्म किया। तब से वे प्रतिवर्ष उनका अपने आश्रम में श्राद्ध दिवस भक्तिपूर्वक मनाते थे। इसमें हजारों लोग सम्मिलित होते थे।

सौभाग्यवश शारिका देवी के पास उनकी छोटी बहन प्रभा भी आती रहती थी। श्री लक्ष्मण जी के व्यक्तित्व से वह बहुत प्रभावित हुई थी। कालांतर १९४२ ई॰ में प्रभा की शादी बड़ी धूमधाम से हुई। स्वामी जी को भी आशीर्वाद देने के लिए विवाह संस्कार के समय आमंत्रित किया गया था। कहते हैं उस समय स्वामी जी ने भविष्यवाणी की थी कि प्रभाजी के पिता का कन्यादान सफल नहीं होगा। ''सतांहि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृतयः'' कालिदास की यह सूक्तिपूर्णरूप से उनपर चरितार्थ हुई अर्थात् १९४४ ई० में प्रभा के पति का अकस्मात् निधन हुआ। बीस वर्ष की कन्या पर यह अनभ्रवज्रपात हुआ। बाद में



स्वामी जी ने १९४५ ई. में प्रभा जी को शैवी-दीक्षा देकर शैवदर्शन का अध्यापन प्रारंभ किया। तब से दोनों बहिनें नियमित रूप से गुरु महाराज की छत्र-छाया में रहकर अध्ययन के साथ-साथ पारमार्थिक सिद्धि के लिए भी प्रयत्न करने लगीं

१९४८ ई० में स्वामी जी की माता का निधन आश्रम में ही हुआ। माताजी के निधन के छः मास के बाद पौष शुक्ल प्रतिपदा को उनके पिता धर्मराज के लोक के पथिक बन गए। मां-बाप के स्वर्गगमन के बाद श्री लक्ष्मण जी अपने आश्रम में योगी के समान रहने लगे।

कुछ समय के बाद स्वामी जी के मन में दूसरी जगह अपना आश्रम बनवाने का संकल्प उंठा। अतः उन्होंने १९६१ ई. में आश्रम की सारी जमीन बेच दी। निशात तथा ईश्वर नामक गांव के बीच नई जमीन खरीदी। वहां अपनी आवश्यकता के अनुसार छोटा-सा मकान बनवाया, उसके साथ ही वाटिका भी रखी गई। १९६२ ई० में इस नए आश्रम में स्वामी जी ने बड़े हर्ष से प्रवेश किया। यहां यह नियम रखा गया कि जिज्ञासुक इतवार के दिन दर्शन के बाद शैव-दर्शन का अध्ययन भी कर सकेंगे। देवी शारिका जी तथा प्रभादेवी को वहां रहने की सहर्ष अनुमति स्वामी जी ने दी। तब से प्रति इतवार के दिन लोग शैवदर्शन के ग्रंथों का अध्ययन उनसे करने लगे। १९८२ ई. में स्वामीजी को अकस्मात् दिल का दौरा पड़ा। डाक्टरों ने 'पेसमेकर' लगाने का सुझााव दिया। अंत में दिल्ली जाकर उन्होंने पेसमेकर लगवाया। दिल्ली से आकर उनके मन में आश्रम में एक मंदिर बनवाने का विचार आया। परिणामस्वरूप मंदिर बनवाया गया। मंदिर में अमृतेश्वर भैरव की प्रतिष्ठा १९८१ ई० में की गई। कालान्तर मंदिर का उद्घाटन बड़े हर्षोल्लास से हुआ। तब से प्रतिदिन स्वामी जी मंदिर में अमृतेश्वर भैरव की पूजा करते थे। इसके अनन्तर १९८४ ई में अपने आश्रम के प्राङ्गण में ही एक सत्संगशाला बनवाई गई। उनके सभी शिष्य तथा भक्त आदि उनके सत्संग का लाभ वहां उठाते थे तथा शैवदर्शन के ज्ञानामृत से आप्लावित होते थे।



१९८९ ई० में श्रीनगर से जम्मू आकर ब्रह्मवादिनी शारिका जी का स्वास्थ बिगड़ गया। फलतः वह २० फरवरी १९९० ई० को अन्तर्ध्यान हुईं। दसवें दिन लोगों ने उन्हें भावभीनी श्रद्धांजलि दे दी। मैंने भी संस्कृत में एक कविता दिवंगत विदुषी की स्मृति में पढ़कर स्वामी जी को दे दी। स्वामी जी ने अपने शिष्यों को यह कविता प्रतिदिन प्रार्थना के समय पढ़ने का आग्रह किया। इसकी एक प्रति मैंने अपनी प्रिय बहन श्री नीलकंठ रैना की धर्मपत्नी श्रीमती कमलाजी को भी उस समय दी।

अमेरिका से स्वदेश लौटकर अंत में ईश्वर-स्वरूप स्वामी लक्ष्मण जी दिल्ली में २५ सितंबर १९९१ तदनुसार अश्विन कृष्ण चतुर्थी को ब्रह्ममुहूर्त में ब्रह्म में लीन हुए। इनके देहावसान का समाचार सुनकर सारे लोग शोकसागर में डूब गए। विदेशों से इनके शिष्य श्रद्धांजली देने के लिए दिल्ली आ गए। जम्मू में भी गांधीनगर में उनकी स्मृति में शोकसभाओं का आयोजन हुआ। इसमें जम्मू व कश्मीर राज्य के प्रायः सभी लोगों ने उनके क्रियाकर्म के दिन विधिवत् मनाए। कुछ लोगों ने उपवास आदि रखा। उनकी स्मृति में कुछ कीर्तन करने लगे। प्रतिष्ठित विद्वानों ने उनके निष्काम कार्य को सराहा। इस लेख के लेखक ने उनके बहुआयामी व्यक्तित्व पर प्रकाश डाला तथा उनके विषय में एक सरल संस्कृत कविता श्रद्धांजलि के रूप में पढ़कर सुनाई। इस तरह गांधीनगर में उनके बारहवें दिन तक साहित्यिक कार्यक्रम भी चलता रहा।

स्वामीजी मेरी दृष्टि में :-

भारतीय संस्कृति के मूलभूत सिद्धांतों-सर्वशिवता (सब का कल्याण) सर्व समता (सब इस विश्व में समान हैं, न कोई ऊँचा है न कोई नीचा है) के नियमों को क्रियात्मक रूप देने वालों में से तथा शैवदर्शन की प्राचीन परंपरा को जन-साधारण तक पहुंचाने में स्वामी लक्ष्मण जी का प्रमुख स्थान रहा है। 'साधारण जीवन तथा उच्च विचार' इनके जीवन का परम लक्ष्य था।



उच्च घराने में जन्म लेकर भी आपने ऋषियों की तरह अपना जीवन निभाया। आप सात्विक वृत्ति के थे। कभी भी मादक द्रव्यों का सेवन नहीं किया था। आप कर्मयोगी तथा ज्ञानयोगी थे। आप रूढ़िवाद के विरोधी तथा प्रगतिशील थे। आप अंग्रेजी, हिन्दी, उर्दू, कश्मीरी, संस्कृत आदि के विद्वान थे। आप जातिवर्ण भेद के बिना सबों को शैवदर्शन पढ़ाते थे। आपके जन्मदिन पर प्रायः सभी लोग प्रसाद खाकर अपने आपको कृत-कृत्य समझते थे। उस दिन लंगर की व्यवस्था उनके शिष्यों द्वारा होती थी। आप कश्मीरियों को शैवशास्त्र कश्मीरी में पढ़ाते थे तथा उनके पारिभाषिक शब्दों:– जैसे *प्रकाश* तथा *विमर्श* आदि को सरल कश्मीरी में समझाते थे, अंग्रेजों को अंग्रेजी भाषा में। आपके व्यक्तित्व से ऐसा लगता था कि आप प्राचीन तथा आर्वाचीन के प्रत्यक्ष स्वरूप हैं। ''यह प्राचीन है अतः यह त्याज्य है यह अर्वाचीन है अतः यह ग्राह्य है।'' दोनों में आप इस सिद्धान्त के विरोधी थे। आपके विचार से जो चीजें दोनों में अच्छी हों, वह चीजें हर अवस्था में प्रत्येक के लिये ग्राह्य हैं। आपका दृष्टिकोण उदार मुनियों की तरह विशाल था। तभी तो आपके पास सब धर्मों के लोग आशीर्वाद पाने के लिए विभिन्नदेशों से आया करते थे। आपकी वाणी में अलौकिक सिद्धि थी सिद्ध होने के कारण। किसी युग में भी सिद्धों की वाणी असफल नहीं होती है।

इस संसार में अज्ञानियों, दिग्भ्रमितों तथा पथभ्रष्टों का मार्गदर्शन करना आपके जीवन का परम लक्ष्य था। आप आचार्य अभिनवगुप्त के बाद इस आधुनिक युग में भैरवनाथ शिव के रूप में शैवदर्शन की पताका को विश्व में फहराने के लिए तथा इसका संदेश जन-जन तक पहुंचाने के लिए अवतरित हुए थे। आप शांति तथा मानवतावाद के प्रतीक थे तभी तो स्वर्गीय इंदिरा गांधी जी भारत में शांति-स्थिर रखने के लिए १९८४ ई. में आपके पास आशीर्वाद लेने के लिए आईं थीं। आपकी नव उन्मेषशालिनी प्रतिभा से प्रभावित होकर देश-विदेश के विद्वान शैवदर्शन की गुत्थी को समझने के लिए आपके पास आते थे। १९५० ई॰ में फ्रांस से डा॰ सिलबर्न जो संस्कृतभाषा से परिचित थीं,



आपके पास 'शैवदर्शन' का अध्ययन करने के लिए आईं। कई वर्ष उन्होंने स्वामी जी से शैवदर्शन के मुख्य ग्रंथों का अध्ययन किया। बाद में उन ग्रंथो का अनुवाद उन्होंने फ्रेंच भाषा में किया।

अद्वैतवेदांत के प्रचारक महामहिम डा. कर्णसिंह भी स्वामी जी के पास आया करते थे। कभी-कभी जम्मू व कश्मीर राज्य के मुख्यमंत्री बख्शी गुलाम मोहम्मद भी। वेदांतके धुरंधर विद्वान स्वामी नीलकंठानंद सरस्वती, जो ऋषीकेश में रहते थे, वे भी आपके आश्रम में शास्त्रों का अध्ययन करते थे। श्री ठाकुर जयदेव सिंह जी ने 'प्रत्याभिज्ञाह्रदयम्' का सम्यक अवलोकन स्वामी जी की संरक्षता में किया। कई वर्षों में उन्होंने 'शैवदर्शन' के ग्रन्थ पढ़े और उनका अनुवाद अंग्रेजी भाषा में किया। उनका पहला ग्रंथ 'प्रत्यभिज्ञाह्रदयम्'' १६७८ ई॰ में छपकर स्वामी जी को उपहार के रूप में प्रदान किया गया। मिथिला-निवासी आचार्य श्री रामेश्वर जी झा स्वामी जी के आध्यात्मिक ज्ञान से बहुत प्रभावित हुए। फलतः झा महोदय ने स्वामी जी को अपना गुरु मानकर स्वामी जी की 'गुरुस्तुतिः' लिखी, जिसे शिष्य प्रातः काल उठकर प्रतिदिन पढ़ते हैं। एकबार मेरे साथ स्वर्गीय कैलाशनाथ काटजू के सुपुत्र श्री शिवनाथ काटजू शैवदर्शन सम्बन्धी जटिल शंकाओं का समाधान करने के लिए स्वामी जी के पास चले गए। वहां वे उनकी विद्वत्ता से बहुत प्रभावित हुए। इस तरह आश्रम, विद्वानों का मुख्य केन्द्र रहा था।

जर्मनी की प्रसिद्ध विदुषी स्वामी जी की प्रियशिष्या बेट्टिना बावमर ने स्वामी जी के देहावसान का समाचार सुनकर, १६ अक्तूबर १६६१ ई० को 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' में अपनी श्रद्धांजलि में अपने उद्गार इस प्रकार प्रकट किएः-

''आचार्य अभिनवगुप्त की परंपरा का अंतिम शैवदर्शनाचार्य तथा योगी ब्रह्म में लीन हुआ।''



अमेरीका के ''जॉन'' ने अनेको वर्षों तक इनके आश्रम में रहकर शैवदर्शन के अनेक ग्रंथों का अध्ययन इनसे किया। जॉन ने इनके अनेक शैवदर्शन संबंधी भाषणों को 'कैसेटों' में वाग्बद्ध किया।

१६६५ ई० में ''डा० संपूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय'' में 'अखिल भारतीय तंत्र सम्मेलन' का आयोजन था। इसमें 'कुंडलिनी विज्ञान रहस्य' पर स्वामी जी ने संस्कृत में अपना शोधपत्र पढ़ा। कालांतर विश्वविद्यालय ने उन्हें डी. लिट की मानद उपाधि से सम्मानित किया।

१६८७ ई. में 'कश्मीर विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग' में पहली बार कश्मीर शैवदर्शन पर त्रिदिवसीय संगोष्ठी का आयोजन था। इसमें संपूर्ण भारत के मूर्धन्य विद्वानों ने शोधपत्र पढ़े। संगोष्ठी के अंतिम दिन–सारे विद्वान ''ईश्वर'' इनके आश्रम में चले गए। 'शैवदर्शनमठिका' में वहां इनकी अध्यक्षता में एक विशाल बैठक हुई। विद्वानों ने वहाँ शैवदर्शन सम्बन्धी कुछ जटिल प्रश्न उनसे पूछे। सौभाग्य से इस सम्मेलन में मैं भी 'कश्मीर विश्वविद्यालय' की ओर से प्राध्यापक के रूप में सम्मिलित हुआ था। उन सब प्रश्नों का उत्तर स्वामी जी ने अच्छी तरह दिया। अंत में उनके पांडित्य से प्रभावित होकर उन्होंने यह बैंठक सायं आठ बजे विसर्जित की। इससे उनकी कीर्ति चारों तरफ फैल गई।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि स्वामी जी केवल योगी ही नहीं थे बल्कि वे शैवदर्शन के आचार्य तथा लेखक भी थे।

गत तीन दशकों से मैं उनके आश्रम में जाया करता था। रविवार के दिन वे शैवदर्शन के ग्रंथों को क्रमशः पढ़ाते थे। प्रायः कश्मीरी शैली में वे श्लोकों का उच्चारण करते थे। कभी-कभी पढ़ाते समय उनके कमल-नयनों से आंसुओं की धारा बहती थी। समझाने का उनका अपना ढंग था। गुरुओं से जैसा उन्होंने पढ़ा था, वैसा ही वह पढ़ाते थे।उनके पढ़ाने में कभी-कभी हास्यरस की पुट भी पाई जाती थी। प्रायः 'परमार्थसार' आदि पुस्तकों के श्लोक उन्हें



कंठस्थ थे। गूढ़-कारिकाओं का अर्थ तथा उनकी व्याख्या वे सरल रूप से समझाते थे। यह उनमें विशेषता थी। स्वयं आत्मानुभव होने के कारण वे शैवदर्शन की रहस्यात्मक शब्दावली को सहज रूप से समझााने में समर्थ थे। संस्कृतज्ञ को देखकर वे बहुत प्रसन्न हो जाते थे। आश्रम में जब पहली बार मैं गया, मेरा संस्कृत में उच्चारण सुनकर वे अत्यंत प्रसन्न हुए। उन्होंने मुझसे पूछा-''तुमने किस कक्षा तक संस्कृत पढ़ी है ?'' ''मैने हाथ जोड़कर उनसे कहा''-मैंने शास्त्री की परीक्षा इस वर्ष १६५२ ई॰ में उत्तीर्ण की है।'' यह जानकर वे फूले न समाए। उस समय संस्कृत के प्रकांड पंडित प्रो॰ जियालाल कौल भी उनके पास आते थे। शैवदर्शन के गूढ़ विषयों पर वे चर्चा करते थे। स्वामी जी जिस समय अपना व्याख्यान करते थे, श्रोतागण मंत्रमुग्ध जैसे होते थे। आश्रम का वातावरण उनके ज्ञान के आलोक से आलोकित हो जाता था। विद्या तथा ज्ञान का समन्वय वहाँ दिखाई देता था। वस्तुतः आश्रम सत्यं, शिवं तथा सुन्दरं का प्रतीक था। तत्कालीन आश्रम की अनेक घटनाएं मुझे इस समय भी याद आती हैं तथा अभ्रावृत आकाश में सूर्य के समान यहां अंतर्धान होती हैं। कश्मीर की वर्तमान विषम परिस्थितियों को देखकर मुझे ऐसा लगता है कि आश्रम के वे दिन स्वप्नवत् थे क्योंकि कश्मीर के अक्षय वट को सांपों ने गत आठ वर्षो से डस लिया है। कितनी विडम्बना है कि जिस अक्षय वटवृक्ष ने अपनी छाया के नीचे भिन्न-भिन्न प्रकार के फूलों को विकसित कर दिया, उसी वटवृक्ष को विशाल अजगरों ने घेर लिया है। इस लघु लेख में स्वामी जी के बहुआयामी व्यक्तित्व पर प्रकाश डालना मेरे लिए संभव नहीं, तथापि उनके कुछ आयामों को उभारने की चेष्टा मैंने की है।

व्यक्तित्व के बाद उनके कृतित्व पर प्रकाश डालना आवश्यक है क्योंकि कृतित्व से व्यक्तित्व उसी प्रकार निखरता है जिस प्रकार मणि से कांचन।

अनुवाद तथा रचनाएं :

१. आचार्य अभिवनवगुप्त की गीता का संपादन (१६३३)

२. शिवस्तोत्रावली का हिंदी अनुवाद (१९६४)
३. क्रमनय प्रदीपिका का हिंन्दी अनुवाद
४. शिवस्तोत्रावली का अंग्रेजी अनुवाद
५. साम्बपञ्चाशिका का हिंदी अनुवाद
६. **Lectures on Practice & Discipline in Kashmir Shaivism.**
७. **Kashmir Shaivism-the Secret Supreme (Lectures given to foreign disciples)**
८. तंत्रालोक के प्रथम 'अह्निक' का हिंदी अनुवाद आदि।

यद्यपि ईश्वर स्वरूप स्वामी लक्ष्मण जी का पार्थिव शरीर हमारे पास नहीं हैं तथापि उन्होंने जो समता तथा शिवता का दिव्य संदेश जातिवर्ण भेद के बिना लोगों को दिया, वह उनको हमेशा सन्मार्ग प्रदर्शन करता रहेगा। उनके ज्ञानामृत से भावी पीढ़ी को अवश्य प्रेरणा मिलेगी। ऐसा मेरा विश्वास है। स्वामी जी के सपनों को साकार करना हमारा प्रथम कर्त्तव्य हैं क्योंकि आचार्यों द्वारा कहे गए अमृतसम वाक्य प्रत्येक युग में मानव को सही दिशा देते हैं तथा कुमार्ग से हटाकर उसे सन्मार्ग की ओर ले जाते हैं। अतः हमें इस संभ्रांत युग में शैवदर्शन का अवश्य प्रचार करना चाहिए क्योंकि यहीं एक ऐसा दर्शन है जिसके अनुसार एक चंड़ाल भी इसका अधिकारी हो सकता है। राष्ट्रीय एकता की नीवं को सृदृढ़ बनाने के लिए तथा विश्व कल्याण के लिए इस दर्शन की उपादेयता इस युग में महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सकती है।

निःसंदेह, स्वामी जी का यशरूपी शरीर अजर तथा अमर है। संस्कृत के महाकवि भर्तृहरि की यह सूक्ति उन पर पूर्णरूप से चरितार्थ होती है :–

''नास्तितेषां यशः काये जरामरणजं भयम्।''





श्रद्धांजलि

सन्तोष जलाली, निव-प्लाट, जम्मू

ईश्वर स्वरूप जीके विषय में कुछ कहना या लिखना मेरी सामर्थ्य के बाहिर ही है। फिर भी कुछ लिखने का प्रयास करती हूँ। मैं बहुत छोटी थी और मुझे मालूम हुआ कि मैं उनके आशीर्वाद से ही पैदा हुई हूँ। विवाह के पन्द्रह-सोलह वर्ष तक कोई सन्तान न होने के कारण मेरे माता-पिता दुःखी रहते थे। मेरी माता हर अमावस की रात शिवजी का पूजन करती, पूर्णिमा के दिन सत्यनारायण व्रत और कथा करती और भी कितने व्रत और अनुष्ठान करती रहती। एक बार मेरी माता ने स्वामी जी से कहा कि वे किसी बच्चे को गोद ले लेंगी। पर स्वामीजी ने कहा कि तुम्हें अवश्य संतान होगी। स्वामीजी (मारबल) फतेकदल में रहते थे। इनके पिताश्री नारायण दास जी तो साक्षात् नारायण ही लगते थे और धन धान्य से भरपूर काफी प्रसिद्ध थे। मैं भी अपने मातापिता के साथ फतेकदल (मलिकयार) में रहती थी। मेरे पिता जी 'एस. पी कालेज' में हिन्दी संस्कृत के अध्यापक थे। पिताजी भी धार्मिक विचारों के थे। स्वामी जी के पास बहुत ही अधिक आना जाना होता था। वहाँ स्वामी जी के गुरुजी और परम गुरुजी के यज्ञ और जन्म दिन धूम-धाम से मनाये जाते थे। शारिकाजी और प्रभाजी पर इनकी विशेष कृपा थी। स्वामी जी के पिताजी ने, स्वामीजी की इच्छानुसार ईश्वर पर्वत पर एक सुन्दर आश्रम बनवाया। मेरे नाना जी (श्रीजियालालजी सोपोरी) ने भी अपनी पुत्री शारिका जी के लिये वहीं पर एक और आश्रम बनवाया। शारिकाजी प्रभाजी वहीं रहती थीं। हम भी अनेकों बार वहाँ रहने के लिये जाते रहते थे।

स्वामीजी का कार्यक्रम निश्चित था। पढ़ना, घूमना, वृक्षों की देखभाल, दोपहरका खाना, संध्या इत्यादि। स्वामी जी कभी किसी कार्य को भूल नहीं जाते थे। उनके आश्रम में मैं कितने ही दिन रहती थी। स्वामीजी के पास नित्य ही



शारिका जी और प्रभाजी हाथ बाँधे खड़े रहतीं। गोपीनाथ भी चुप चाप आश्रम के कार्य में जुटा रहता था। स्वामी जी के मुखारविन्द से कोई भी काम करने का आदेश होता तो कोई कुछ पूछने का साहस नहीं करता था। इसी सोच में पड़ जाते थे कि स्वामी जी के आदेश का पालन शीघ्र हो। छोटे मोटे काम मुझसे भी कहते। वे मुझसे पूछते कि कौन सा काम करोगी। मैं कुछ भी न कहती और वे हंस कर कोई छोटा काम कहते। उन्हें प्रत्येक काम कैसे करना चाहिए और कब करना चाहिए, इसका पूरा ज्ञान था। वे कहते कोई काम करना है तो समय पर करो और अच्छी तरह ध्यान लगा कर करो। शारिकाजी से कहते इसे (मुझे) अच्छी तरह दूध-दही खिलाया करो; उनके आश्रम में हरसमय दो तीन गायें तो रहती ही थीं। एक बार वे वजीरबाग गये थे। रात के ग्यारह बजे उन्हें मालूम हुआ कि ईश्वर में गाय बीमार है। बस फिर क्या था, आव देखा न ताव, स्वामीजी ने साईकल उठाई और ''इशबर'' पहुँचे और तभी गाय ने बछड़े को जन्म दिया। किसी की वेदना वे सह नहीं सकते थे। इनके आश्रम के पास बहुत प्रकार के फलों के वृक्ष थे। इन वृक्षों की देखभाल वे अपने परिवार जनों की तरह ही किया करते थे। किसी भी कार्य को वे कल पर नहीं छोड़ते थे। उनके आश्रम में उनके समीप रह कर हमें सब कुछ मिला। उनके जन्म दिन पर हम हर वर्ष वहाँ जाते थे। वे हमारे साथ स्वयं चलते और गांव की छोटी पहाड़ी पर सब्जी ढूँढ़कर लाने को कहते। वे दिखाते कि ये पीले फूल वाला साग (कश्मीरी में हन्द) लाओ। दूसरा साग जिसके ऊपर सफेद कांटा लगा होता है। कुछ वे स्वयं हमे काट कर दिखलाते। वे कहते इस साग से आंखों की रोशनी बनी रहती है किस तरह काटना है, स्वयं काटकर हमें दिखलाते। इसी प्रकार हम बहुत वर्ष इनके पास आते रहे और दर्शन करते रहे। मैंने बी॰ ए॰ की परीक्षा दी और शादी हो गई। फिर बहुत बार वहाँ नहीं जा सकती थी। स्वामीजी के आदेशानुसार जो काम करना है पूरी जिम्मेदारी से करना चाहिए। मैं भी ससुराल में रहकर वहां सबकी इच्छानुसार कार्य करने का प्रयास करती रही। इसी बीच सुनने में आया



कि दोनों ही आश्रम, स्वामीजी बेच रहे हैं। गुप्त गंगा के पास नया छोटा सा आश्रम बनेगा। इन्हीं दिनों मेरी नानीजी काफी बीमार थीं और स्वामीजी से प्रार्थना करतीं कि वे शारीरिक कष्ट से मुक्त हो जाय। स्वामी जी ने कहा, ''आपको नये आश्रम में प्रवेश करना होगा तभी मुक्ति होगी।'' ऐसा ही हुआ। नये आश्रम में ही शारिका देवीजी और प्रभा देवजी के कमरे भी बने। सारे संसार से लोग इनसे मिलने के लिये आते रहे। उनके पास कितने ही विद्यार्थी आते रहते थे, जिन्हें पी॰ एच॰ डी॰ और शैव शास्त्रों का गहन अध्ययन करना होता था।

मेरे माता-पिता से स्वामी जी बहुत स्नेह तथा आदर का भाव रखते थे। जब भी प्रेम और भक्ति से कभी मेरी माता जी स्वामीजी को बुलाती तो मानो कृष्ण ने सुदामा या द्रोपदी की पुकार सुनी हो। किसी भी प्रकार वे मंद मंद मुस्कराते आते और हम सब को मन्त्रगुग्ध कर जाते। उनके पास बैठ कर न हमें भूख लगती थी न प्यास, कहीं वे सब का समान रूप से ध्यान रखते। कोई नाराज़ तो नहीं हुआ। नये आश्रम में भी लोगों का आना जाना काफी बढ़ गया। अब तो सब के लिये ऐतवार ही एक ऐसा दिन था जब हम स्वामीजी के दर्शन कर सकते थे। उनके दर्शनमात्र से ही हमारी सभी चिन्तायें दूर हो जाती थीं। उनकी कृपा हम पर बरसती रही और अभी भी वे बहुत बार स्वप्न में दर्शन देकर हमारी आत्मा को तृप्त करते रहते हैं।

जम्मू में मेरे ससुराल वालों ने १६७० में मकान बनवाया। हमें गृह प्रवेश करना था और आपने आने की सूचना हमें तुरन्त भेज दी। हम तो फूले नहीं समा रहे थे। वे हमारे पास तीन दिन रहे। कभी किसी से मिलने जाना होता तो छोटे बालक की भान्ति पूछकर कहते कि मैं जा रहा हूँ और इस समय घर वापिस आ रहा हूँ। समय के अनुसार कार्य करना तो उनका स्वभाव ही था।

एक बार मैं इश्बर आश्रम गई और उस दिन सोमवार था। स्वामीजी सोमवार के दिन मौन व्रत धारण करते थे। जब मैं आश्रम में प्रवेश कर रही थी तो मैंने

सोचा कि हे ईश्वर क्या ये स्वामीजी वैसेही है जैसे पहले पुराने आश्रम में थे ? आश्रम में आने वाले बहुत से लोग कहते थे कि वे बदल गये हैं पर मेरा विश्वास अडिग था। फिर भी बिजली की तरह एक विचार आया कि क्या मैं वैसे ही यहाँ रात को रह सकती हूँ जैसे पहले कभी रहती थी। विचार आया, गया हो गया। आश्रम में बैठे कुछ ही समय हुआ था कि एकाएक आसमान में बादल रूई के ढेर की भांति प्रकट हुए और मुसलाधार वर्षा आरम्भ हो गई। मेरा मन हर्षित होकर सोचने लगा कि क्या स्वामी जी मौनव्रत खोलेंगे ? बस इतनी ही देर में आश्रम का बड़ा कमरा (जहाँ सभी लोगों को पढ़ाते थे) पानी से भर गया। उनके कमरे की खिड़की खुली और जल्दी से आदेश हुआ ''देखते क्या हो सब लोग कमरे का समान बाहर निकालो।'' अंधेरा छा गया और शारिका जी स्वामीजी से पूछ रही थी कि अब सन्तोष इस इंधेरे में कैसे जायगी ? वे सहज भाव से बोले, कहां जायेंगी यहीं आश्रम में रात को ठहरेगी। फिर सुबह उठकर पूछा शारिका जी के पास सोई थी। उन्हें सब कुछ मालूम था फिर भी वे पूछते। वे कहते माता पिता की तरह ही ईश्वर को मानो और जानो। किसी को मन वचन और कर्म से कष्ट न दो। उनकी कृपा हम पर सदा बनी रही। बस इसी इच्छा के साथ मैं सन्तोष जलाली श्री स्वामी ईश्वर स्वरूप जी महाराज के श्री चरणों का ध्यान करती रहूँ। उनका गुणगान करने की शक्ति और साहस कठिन कार्य है।

जय गुरुदेव जय जय गुरुदेव।

• • •



गहरा भेद

श्रीमती रैणा, नोएड़ा

जन्म लिया है मत मूर्ख बन।
गहरे भेद गुरु पहचान।।
गहरे भेद गुरु पहचान।
मूर्ख पागल क्या न बनेगा।।

पकड़ गुरु दामन रहना।
पकड़ गुरु दामन रहना।।
सारे बन्धन समझ गुरु में।
हृदयों की रक्षा करना।।

हृदयों की रक्षा करना।
सहज सुगम उपाय है बन्दे।।
गुरु भावों में लिपटे जा।
गुरु भावों में लिपटे जा।।

भावों को तू यज्ञ समझ ले।
आहुति बन जा स्वयं तू बन्दे।।
आहुति बन जा स्वयं तू बन्दे।
सत्य है मत बन तू मूर्ख।।

असत्य सब सत्य बनेगा।
असत्य सब सत्य बनेगा।।
कहने सुनने में अन्तर है।
आहुति बन जा स्वयं तू बन्दे।।



आहुति बन जा स्वयं तू बन्दे।
जानले गहरा भेद गुरु का।
जयकार परम शिव जय गुरुदेव।
जयकार परम शिव जय गुरुदेव।।

जय गुरुदेव। जय गुरुदेव।
जय गुरुदेव। जय गुरुदेव।।
जय गुरुदेव

• • •

''संकल्प में जो दृढ है, प्रतिज्ञा में जो अविचल है, जो जितेन्द्रिय है, जो मन वचन कर्म से गुरु के आदेश पालन में तत्पर है, वही भगवान को प्राप्त करने का अधिकारी है।''

— परम पूज्य श्री स्वामी जी महाराज

• • •



गुरु की महिमा

श्रीमती रैणा, नोएड़ा

गुरुकी महिमा खोज ह्रदय में ।
गुरुकी महिमा खोज ह्रदय में ।।
महिमा गुरु की परम।
महिमा गुरु की परम।।

परम श्रद्धा, परम भावना।
परम श्रद्धा, परम भावना।।
सब कुछ महिमा परम।
सब कुछ महिमा परम।।

परम शास्त्र क्या, परम सहारा।
परम शास्त्र क्या, परम सहारा।।
शक्ति भक्ति परम।
शक्ति भक्ति परम।।

भोला भण्डारी ये झूमें।
भोला भण्डारी ये झूमें।।
महिमा गुरु की परम।
महिमा गुरु की परम।।

गुरु चरण को प्रेम से छूना।
गुरु चरण को प्रेम से छूना।।
चरणों की महिमा है परम।
चरणों की महिमा है परम।।



गुरु की आभा गुरु में समाये।
गुरु की आभा गुरु में समाये।।
आभा गुरु की परम।
आभा गुरु की परम।।

साक्षात परम शिव सब का सहारा।
साक्षात परम शिव सब का सहारा।।
जान परम शिव अब।
जान परम शिव अब।।

परम सम्बन्ध जान गुरु का।
परम सम्बन्ध जान गुरु का।।
जयकार परम शिव जय।
जयकार परम शिव जय।।

जय गुरुदेव, जय गुरु देव।।
जय गुरुदेव, जय गुरु देव।।

जय गुरुदेव

• • •

धर्म है – साधना में , आचरण में, अनुष्ठान में, अनुभूति में, त्याग में, संयम में और सत्य में ।

– परम पूज्य श्री स्वामी जी महाराज



गुरुवर्य के प्रति श्रद्धांजलि

सुशीला गंजू
37-D-B-C गांधी नगर, जम्मू

पूज्यपाद श्री ईश्वर-स्वरूप जी जहाँ मेरे मामु जी हैं वहाँ मेरे हृदय के आराध्य देव गुरुवर्य भी हैं। आज तक उनके अपूर्व चमत्कार लिखने का सुअवसर न मिला। अब महाराज जी की कृपा-दृष्टि के फलस्वरूप ही मैं उनके इने-गिने चमत्कारों का बखान कर रही हूँ। बचपन से मैं उनके साथ-साथ रही। यह मेरा सौभाग्य था। स्वामी जी महाराज पहाड़ी के दामन में अपने आश्रम में रहते थे। बहुत वर्षों की घटना है। मैं भी छोटी थी। मुझे मेरी नानी जी (स्वामी जी की माता) अपने साथ श्री आनन्दकौल जो उनके निकट के सम्बन्धि थे, वहाँ ले गईं। उन्होंने निशात बाग के ऊपरी स्तर में मकान बनाया था। उनका उस दिन इस नये ग्रह में प्रवेश था। उन्होंने पकवान में मांस आदि बनाया था। नानी जी तो खूब मांस खाती थीं उन्होंने मुझे भी खाने के लिए विवश किया मैं रो पड़ी। मेरे रोने का भी उन पर कोई प्रभाव न पड़ा और मुझे खिलाकर ही संतुष्ट हुईं।

अब जब घर की ओर जाने लगे तो सारे रास्ते मुझे बोलती रहीं कि अब मामूजी से न कहना कि मैंने मांस खाया है। मैं उनकी पट्टी जो मुझे पढ़ा रही थीं, मौन होके सुन रही थी। इधर जब हम अपने घर की अंगनाई में पहुँचे तो त्रिकालदर्शी ईश्वर-स्वरूप जी अंगनाई में 'डयक चियर' पर विराजमान थे। माता को तो कुछ नहीं कहा-मेरी बांह पकड़ी और गर्ज के कहा-आई मांस खाके, यह कहकर मुझे बावली के पास ले गये। कपड़े निकालकर 'बावली' के जल से नह लाया और कहा–अब कभी सालन नहीं कहना। मैं हैरान हो गईं इनका यह चमत्कार देखकर बिना कुछ कहे सभी जान जाते थे। माता भी सहम गई महाराज जी का व्यवहार देखकर।



दूसरी घटना १९५७ की है—मेरी बेटी लगभग ६ महीने की थी। उसे आँखों में पैदा होते ही तकलीफ हो गई। आँख लाल रहती थी और काफी पानी आँख से आता रहता था। सभी परिवार चिन्तित हो गया। डाक्टरों को दिखाया। दवा-दारु शुरू की। दो तीन महीने इलाज करते रहे, पर फर्क न पड़ा। फिर एक विशेषज्ञ को दिखाया उसने कहा-आपरेशन करना पड़ेगा। हम सभी व्याकुल हो गये। इतने से बच्चे का आपरेशन कैसे होगा। इसी चिन्ता में मुझे गुरुदेव का ध्यान आया। मैंने विचारा उनके पास जाना ही उचित है। महाराज जी जैसा कहेंगे वही करेंगे। मेरे असली डाक्टर तो वही थे। अतः वहाँ जाने का निश्चय किया। महाराज जी उन दिनों एक मास के लिए मौन-व्रत में बैठे थे। मैंने विचारा मैं देवी जी से अपनी सभी समस्या कहूँगी। मैंने दिन का खाना खाया। नौकर को साथ लेकर इशबर गई। वहाँ जब पहुँची तो देवी जी मुझे देखकर विस्मित हो गईं कि दिन को मैं छोटे बच्चे को लेकर कहाँ से टपक पड़ी। मैंने प्रणाम किया और सब हाल बताया। कुछ क्षणों के लिए वह भी सोच में पड़ी। आखिर मुझे रात को रहने के लिए कहा—मैंने नौकर को घर भेज दिया। देवी जी से प्रार्थना की कि यदि स्वामी जी चाहें तो वही इसे ठीक कर सकते हैं। मुझे उन पर पूरा विश्वास है। देवी जी दयालु तो थीं हीं—वे जब रात का भोजन लेकर स्वामी जी महाराज के पास गईं तो उन्होंने ईश्वर-स्वरूप जी से सभी समाचार कहा-महाराज जी ने उन्हें कहा- प्रातः आठ बजे कन्या को मेरे किवाड़ के पास लिटा के रख देना और सुशीला से कहना वहाँ न रहे। मैं स्वयं कन्या को देखूँगा। देवी जी ने आकर मुझे यह संदेश कहा। मैं प्रातःकाल आठ बजे बेटी को महाराज जी के किवाड़ के पास लिटाकर स्वयं नीचे आ गई। एक घंटे के बाद स्वामी जी के चरण-कमलों की आहट सुनाई दी। देवी जी ने मुझे कहा—जाओ स्वामी जी ने आज्ञा दी ऊपर आने की। मैं ऊपर गई तो ईश्वर-स्वरूप जी तो कमरे के अन्दर चले गये थे। मैं बिटिया को उठा के नीचे ले आई। उसी समय हम सबों ने देखा—उस के नेत्र, लालिमा से रहित थे और जल भी सूख गया था।



गया था। मैं हर्ष–पूर्वक ससुराल चली आई और वहाँ जाकर जब फिर डाक्टर को दिखाया तो वह भी विस्मित हो गया। मैं पूर्ण आशा लेकर वहाँ गई थी अतः इश्वर-स्वरूप जी ने मेरी साध पूरी की। वह सत्य शब्दों में आशुतोष थे।

१६८५ की घटना है। मेरा ऑपरेशन होने वाला था। मैं दो तीन महीनों से काफी बीमार थी। मुझे दिल्ली ले गये। सारे टेस्ट किये। डाक्टरों ने सलाह दी कि मुझे जल्दी हस्पताल में दाखिल होना पड़ेगा। दूसरे दिन ही मैं हस्पताल चली गई। वहाँ डाक्टरों ने कहा कि ऑपरेशन अवश्य करना है किन्तु हम विश्वास पूर्वक नहीं कह सकते कि रोगी ठीक रहेगा कि नहीं। यह सुनकर मैं घबरा गई। मैंने इश्वर-स्वरूप जी महाराज को पत्र रोते-रोते लिखा कि जब तक आप का उत्तर नहीं आयेगा मैं ऑपरेशन नही करवाऊँगी। एक सप्ताह हो गया, उत्तर न मिला। मैं मन ही मन निराश हो गई। इधर डाक्टरों ने जल्दी करनी शुरू की। इसी रात को मुझे ईश्वर-स्वरूप जी स्वप्ने में आये। इतवार का दिन था सौम्यमूर्ति बनकर ताली बजाते हुए मुझे कशमीरी भाषा में कहा–च़्य अचि़ न खोरस कोंड, बछुस ज़िमवार। चन्य चिह मीज। यमि विज़ि आपरेशन करनय यि मन्त्र पिरिज़ि। ''जय जगदम्बे जय मैय्या।'' अर्थात् तुम्हें तनिक भी कष्ट नहीं होगा। मैं जिम्मेवार हूँ। आपरेश के समय यह मन्त्र पढ़ना–''जय जगदम्बे जय मैय्या।'' इतने में मेरी आँख खुली। मैं प्रसन्न हो गई। मैंने डाक्टरों को आपरेशन करने की स्वीकृति दे दी। दूसरे दिन ही इतना भयावह ऑपरेशन हो गया। कुछ दिनों में मैं स्वस्थ होकर हस्पताल से निकल आई। आज तक मैं महाराज जी की कृपा से ही स्वस्थ हूँ। मेरे हृदय में उनका निवास है। वह दिन तो मेरे लिए सुख और शान्ति का था। इस आश्चर्यमय चमत्कार को भला मैं कैसे भूल सकती हूँ।

।। जय गुरुदेव ।।



उत्सव मूर्ति



दोनों विचार मग्न



''हमारे प्राण आधार''
काश्मीर के मुकुट मणि

लालजी चड्ढा, वृन्दावनम्, फरीदाबाद

सन्तों का मिलन बहुत सुखदाई होता है ! सद्गुरु मिल गये, इतने दिनों के बाद, बस सब कुछ मिल गया। मन में बहुत सन्तोष था। एक अटूट विश्वास भी था कि अनहोनी कभी नहीं होगी। स्वामी जी तो हैं ना, वह सब सम्भाल लेंगे, चाहे वे श्रीनगर में हो, चाहे जम्मू, या अमेरिका में। मन प्रसन्न रहता था। मिलन पर तो चमन में बहार आ जाती। अब उनका पार्थिक शरीर नहीं रहा तो कभी-कभी मन अकुला उठता है जब उनकी वह करूणा भरी दृष्टि नहीं दिखती, जब उनकी वह उन्मुक्त हँसी नहीं दिखाई पड़ती, जब उनके चरण कमलों का स्पर्श प्राप्त नहीं होता, जब उनके कर कमलों का शीश पर आशीर्वाद नहीं मिलता। इसी वियोग की घड़ी में पूज्य स्वामी जी के दर्शन होने लगते है। उनके वह विशाल नेत्र, मुस्कुराता हुआ चेहरा जैसे कह रहा हो ''मैं तो हूँ तुम्हारे पास। अब न मिलन है और न वियोग ही, केवल रूप दर्शन ही।'' वे तो कृपा करने ही आये थे, उनकी कृपा का अनुभव अभी भी होता रहता है। संत, महात्मा व ग्रन्थों ने कहा है कि गुरु कहीं जाते नहीं, भले ही उनका शरीर न रहे। यह सत्य ही है।

याद आ रहा है वह दिन १९६४ का, जब पहली बार पूज्य श्रीस्वामी जी के दर्शन मुझे हुए थे। दर्शन पाते ही मेरे मन में अजीब सी खलबली सी मच गई थी। मेरा हृदय उनके सानिध्य में प्रफुल्लित हो रहा था। उनकी कृपादृष्टि मुझ पर पड़ी। उनके सागर जैसे विशाल नेत्रों में मैं डूबने लगा। उनकी कृपा हुई, और मैं उनकी ओर खिंचा चला गया। चरण सेवा का अवसर भी मिल गया। मन में आनन्द छा गया और उनकी मन्द मुस्कान ने सब कुछ कह दिया।

श्रीराधारानी के धाम, श्री बरसाना में परम पूज्य श्रीस्वामी जी से दूसरी बार भेंट हुई १९६७ में। स्वामी जी के हाथ में डोल था। सफेद कुरता पायजामा




और हवाई चप्पल पहने, दूध लेने जा रहे थे। कहाँ वे राज योगी–इंगलिश कपड़े का उनका फिरन, इंगलिश उनके जूते, विदेशी सैंट, बढ़िया रूमाल और कहाँ ये भोले भण्डारी ! श्रीराधारानी से मिलने जैसे गोपी रूप में आए हों, फागुन के मस्त महीने में।

श्रीधाम बरसाना में ही पहलीबार व्रज के रसिक सन्त परमपूज्य श्रीबालकृष्णदासजी महाराज की भेंट, पूज्य श्रीस्वामीजी से हुई। इसका वर्णन पूज्य श्री घनश्याम ठाकुर जी ने अपनी श्रद्धाञ्जली में किया है।

दोनों सन्तों का मिलन भी अद्‌भुत रहा। श्रीस्वामीजी के पास समय कम था, पू. महाराज जी कम समय को देखते हुए सब कुछ लुटा देना चाहते हो – ऐसा लगा। पू. महाराजजी ने कार की सुविधा जुटाई और दूसरे दिन नन्दगांव की होली के दर्शनों के लिए ले गये। व्रज के संतों से भेंट करवाई। दोनों सन्तों में प्रेम उमड़ रहा था। दोनों एक दूसरे में व्यस्त रहे, मस्त रहे। हमारा सौभाग्य था कि वे चलते समय हमें दीक्षित कर गए। हम सभी को अतृप्त सा छोड़ कर पूज्य श्रीस्वामीजी देहली होकर श्रीनगर चले गए।

पूज्य महाराज जी की आनन्द की वस्तु थी ''रासलीला''। इस आनन्द से स्वामी जी क्यों वंचित रहे। श्रीमहाराजजी ने एक योजना बनाई, क्यों न रास मंडली को श्रीनगर ले चलें। एक मास का कार्यक्रम बनाया। कार्य बहुत कठिन था। मंडली का तैयार होना, मेरी छुट्‌टी मंजूर होना, ३० व्यक्तियों का रेल आरक्षण, रास्ते में खाने पीने की व्यवस्था इत्यादि-२ सारी योजना ऐसे सहज में हो गई, मानों जैसे कम्प्यूटर से प्रोग्राम किया हो।

रासलीला प्रारम्भ हुई। वातावरण बहुत गम्भीर और शांत था। पूज्य श्रीस्वामी जी व पूज्य श्रीमहाराजजी का आसन सबसे आगे लगता। परिवार के लोग, पूज्य श्रीस्वामी जी का परिकर और थोड़े से चुने हुए व्यक्ति। घर के ही हाल में रासलीला होती थी। निकुँज की लीलाएँ होती थीं। पू. श्रीस्वामीजी भाव विभोर हो उठते



थे। उनके नेत्रों से अश्रुपात होता रहता। कैसा वातावरण तैयार होता था। श्रीयुगल सरकार विलाप करते तो इधर दो संत। पू. श्रीस्वामीजी से न रहा गया। उन्होंने एक दिन पूज्य महाराज जी से कहा मैं इनको रोते नहीं देख सकता, कितना कोमल निर्मल हृदय और उतनी ही सरल वाणी। पूज्य स्वामीजी की उपासना शैव और उनके इष्टदेव महादेव शिव शंकर। दोनों गोपी प्रेमी, दोनों रास-रस में छके हुए। कौन सीमा रेखा में बाँध सकता है उन्हें।

स्वामी जी का देहली आना, जाना कम था। पत्र व्यवहार था, परन्तु कम। हमको ऐसा लगा कि उन्होंने हमें पू॰ महाराज जी के सुर्पद कर दिया है। ऐसा बहुत कम देखने में आया है।

वृन्दावन जाना, बिहारी जी के हर उत्सव पर बहुत अच्छा लगता था। एक धुन तब सवार थी, न रात देखनी न मौसम देखना, न ही सवारी, पटेल नगर से कई बार स्कूटर पर ही चल पड़ते। एक बार हरयाली तीज के अवसर पर देहली से शाम ६ बजे चलकर रात ११ बजे बिहारी जी के झूले के दर्शन किए। अपना अनुभव पू॰ स्वामी जी को लिखा। उत्तर आया आगे से ऐसा न करना। 'प्रिया-प्रियतम' को कष्ट नहीं देना चाहिए। मार्च १६६८ में मैं श्रीनगर गया, अपने आफिस के काम से। पूज्य स्वामी जी अपने संग बैठा कर कहवा (एक प्रकार का पेय) व नाश्ता कराते थे। संध्या को जब लौटता, तो ऐसा लगता कि पू॰ स्वामी जी मेरी बाट देख रहे हों। संग बैठकर प्रसाद पाते। ठंड अभी थी। उन्होंने मुझे कांगड़ी लेना सिखाया। उनका वह वात्सल्य प्रेम पाकर मन गद्‌गद् हो जाता था।

रविवार को स्वामी जी के सानिध्य में बैठे हुए थे। मधुर चर्चा के बाद मैंने उनसे 'योरोप' जाने की आज्ञा माँग ली। मैंने कहा मुझे हिमपात देखने की इच्छा है पर जाऊँगा तो तब तक वहाँ भी गर्मी शुरू हो जायगी। हमारी चर्चा समाप्त हुई और स्वामी जी बाहर आए, मैं भीतर ही बैठा रहा। आसमान साफ था, हल्की सी धूप भी थी। मेरी ओर देख कर पुकारा, ''लाल, इधर आओ, मैं शीघ्रता से



बाहर आया तो दंग रह गया। हल्की हल्की बर्फ गिर रही थी, पूज्य स्वामी जी मुस्कुराये, मेरी ओर देखकर और ऊपर चले गये।

१९६८ अक्टूबर में हमारा बेटा हुआ। जिसे हम गोपी कहकर पुकारने लगे, उसका नाम 'स' अक्षर से रखना था। हमने वृन्दावन जाकर महाराज जी से उसके नामकरण के लिए कहा। उन्होंने तुरन्त नाहीं कर दी और कहने लगे कि इसका नाम स्वामी जी ही रखेंगे। मैंने बहुत आग्रह किया। महाराज जी ने कुछ ठाकुर जी से कान में बातचीत की। इसके बाद फिर मैंने दुबारा आग्रह किया तो उन्होंने कहा इसका नाम ''सुलोचन'' बताया। गोपी की आँखें बहुत प्यारी थीं। कुछ महीनों के बाद परिवार सहित, स्वामी जी के पास पहुँचे उनसे भी वैसा ही आग्रह पूर्वक कहा बालक का नाम ''स'' से रखना है। पूज्य स्वामी जी ने एक झलक गोपी पर डाली और कहा इसका नाम तो ''सुलोचन'' है। हमारे आश्चर्य का ठिकाना न रहा। पू. स्वामी जी व पू. महाराज जी, दो नहीं एक ही हैं। वस्तुतः आत्मा एक है शरीर दो।

पू॰ स्वामीजी का फिर एक बार देहली आना हुआ। हमारे घर को पवित्र करने वे पधारे। चरण कमलों को पखार कर हमने उनकी आरती उतारी।

पू. स्वामीजी ने श्रीधाम वृन्दावन में पू॰ महाराज जी से मिलने की इच्छा प्रकट की। निश्चित दिन ७-८ कारों का काफला चला। पू॰ स्वामीजी एक-एक कर, सब कारों में थोड़ी दूर सवार होते। वह हर एक सेवक का ध्यान रखते थे। वे तो सब के थे, उनको सभी प्रिय थे और सबके प्यारे थे वह। कीर्त्तन करते हुए श्री बिहारी जी के दर्शन किये, अह्लाद का वातावरण छा गया। फूल मालाओं से पू॰ स्वामीजी का सत्कार किया परम पूज्य श्री महाराज जी एवं परिकर ने। सभी ने वेणुविनोद कुंज में ही प्रसाद पाया और देहली वापस लौट आये।

पूज्य महाराज जी की इच्छा हुई कि एक बार पूज्य स्वामी जी के जन्म दिन पर चलना चाहिये। बिना सूचना दिए हम लोग श्रीनगर पहुंच गए। पू॰ स्वामी

जी तैयारी में व्यस्त थे। सूचना मिलते ही पू॰ महाराज जी से मिलने आए। दोनों महानुभावों का मिलन देखते ही बनता था। सेवक भाव विभोर हो गये और आँसुओं पर रोक न लगा सके। वे सुख के दिन थे, जिनकी स्मृति दुःख का निवारण करती है। सब भक्तों के बीच स्वामी जी घंटों समाधि में बैठे-मानों साक्षात् शंकर भगवान दर्शन दे रहे हों। इस अवसर पर पू॰ महाराज जी ने पू॰ स्वामीजी को माला धारण कराई। पू॰ घनश्याम ठाकुर जी ने तो इत्र की शीशी ही उड़ेल दी, शरीर पर मलने से शिष्यों ने रोका भी। पू॰ स्वामीजी की समाधि खुली तो जय जय कार से वातावरण गूँज उठा। कई भक्त नृत्य के सँग गान करने लगे। कइयों ने कविताएँ सुनाईं। साल भर बाद उत्सव का दिन, भक्तों की खुशियाँ मनाने का दिन शंकर भगवान को रिझाने का दिन।

दूसरे दिन का दृश्य अनमोल था, अद्भुत था। इस दिन पू॰ स्वामीजी अपने भक्तों को अपना खजाना लुटाते हैं। अपनी प्रसादी वस्तुएँ, ऊपर वरामदे में बैठकर नीचे फेंकते। भक्तों में लूट मचती और पू॰ स्वामी जी इस कौतुक को देख कर हँसते।

पू. स्वामी जी, महाराज जी के संग बैठे प्रसाद पा रहे थे। इतने में एक भक्त ने कहा मुझे तो प्रसाद मिला ही नहीं ''स्वामी जी के हाथ भात से भरे हुए थे। उन्होंने हाथ आगे बढ़ाते हुए कहा ''यह मेरी अंगुली चाटो'' उस भक्त ने वैसा ही किया। परम पूज्य महाराज जी यह देखकर बहुत आनन्दित हुए और कहने लगे ''यह तो श्रीकृष्ण की ग्वाल गोष्ठी की बात बन गयी'' परम पूज्य महाराज जी ने उसी समय, पूज्य घनश्याम जी को सूरदास जी का पद सुनाने को कहा। उस पद की पंक्ति इस प्रकार थी -

''जिन नहीं खायों, सुनो मेरे भैया।
मेरी उंगलिया चाट
आज दधी, मीठो मदन गोपाल. . .''



व्रज की ''अली'' (परम पूज्य महाराजजी) और ईश्वर स्वरूप जी का स्नेह देखते ही बनता था। पू॰ स्वामी जी की इच्छा हुई कि एक रविवार को पू॰ महाराज जी सब भक्तों को सत्संग दें। पूज्य महाराज जी गुप्तगंगा का हाल, जहां सत्संग होना था, देखने गए। पू॰ महाराजजी ने एक बहुत बड़ी फूल माला बनवाई। हमारे ठाकुर जी अपने सिंहासन पर विराज गए और गुप्त गंगा की ओर सभी चल दिए। एक प्रश्न उठा कि ठाकुर जी कहां बैठेंगे। पू॰ स्वामी जी बोले, ''मैं उन्हें अपने सर पर बैठाऊँगा''। कोई रसिक सन्त ही ऐसा उत्तर दे सकता है।

पू॰ महाराज जी ने जो इतनी बड़ी माला बनवाई इसका रहस्य गुप्त गंगा जाकर ही पता लगा। दीवार पर एक शंकर भगवान का चित्र था, उसीके नीचे स्टेज पर हमारे श्री राधा-कृष्ण पधराए गये। पू॰ महाराजजी ने वह माला शंकर जी को पहनाते हुए श्री राधा-कृष्ण के गले में पहनाई। एक ही माला में श्री राधा-कृष्ण और शंकर महादेव! यह घटना रहस्य पूर्ण थी। पू॰ महाराज जी ने पू॰ ठाकुर घनश्याम जी से कीर्तन शुरू करने को कहा। पू॰ ठाकुर जी ने -

''राम राघव राम राघव रक्षमाम् ''-
''कृष्ण केशव कृष्ण केशव पाहिमाम् ''

पूरा हाल कीर्तन से गूँज उठा इसके बाद दूसरा कीर्तन कराया-

''जयति शिवा-शिव शंकर हर जय''
''महादेव हे शंभु हर जय''
''जयगिरि तनय नील कंठ जय''
''महादेव हे शंभु हर जय।''

पू॰ महाराज जी ने सत्संग शुरू किया परम पूज्य श्री प्रबोधानन्द सरस्वती जी के पद्य से, ''वस्तु मनोमन मदन गोपाल,'' जिसमें उन्होंने श्रीकृष्ण के सौन्दर्य का वर्णन किया। भगवान की महिमा का वर्णन, श्री राम, श्री शिव। वर्णन करते



करते भक्तों की महिमा का वर्णन किया। उन्होंने कहा कि भक्त भगवान से बड़े हैं, जिन्होंने भगवान की महिमा का ज्ञान कराया। इतना ही नहीं स्वयं भगवान को भी ध्यान कराया-''मैं भगवान हूँ''। उदाहरण दिया जैसे, ''शिशु ने भान कराया माँ को, माँ कहकर मातृत्व का कि, ''मैं माँ हूँ! भोले बाबा महादेव बहुत बड़े है परन्तु यदि मैं कहूँ कि स्वामीजी उनसे भी बड़े हैं-क्योंकि शिव की महिमा का ज्ञान स्वामी जी ने हमें करवाया-तो कोई अतिशयोक्ति न होगी।''

पू० स्वामी जी ने भी पू० महाराजी जी को रिझाने की कोई कसर नहीं छोड़ी। ऐसे लगता था कि शंकर भगवान अपने इष्ट को रिझा रहे हों, और उधर श्री कृष्ण भगवान अपने भोले बाबा/को स्वामी जी ने काश्मीर की बहुत अच्छी स्थलियों के दर्शन करवाये। इनमें से दो स्थान महत्वपूर्ण है १. शँकरपल, २. दाछीगाँव यह स्थल बहुत रमणीक हैं और ऐतिहासिक भी। शँकरपल-एक बहुत बड़ी शिला है। इसी के बगल में एक छोटी सी नदी, पहाड़ों में से होती हुई बहती है। स्वामी जी ने नदी में स्नान किया और सभी को स्नान करने के लिये कहा। जहाँ 'शिवसूत्र' पाये गये उसी शिला में पू० स्वामीजी ने पूजा की।

दाछी गाँव के शांत व रमणीक वातावरण ने **Lord Mountbatten** पं० नेहरू को लुभाया था। दाछीगाँव जाने के लिए सरकार से अनुमति लेनी होती है। जम्मू व कश्मीर के मुख्यमंत्री गुलाम मुहम्मद ने दो कारों की अनुमति दी। पू० स्वामी जी ने रोष प्रकट करते हुए, उस अनुमति पत्र को लौटा दिया और कहा ''आद कारें जाएगीं'' वह उल्टे पाँव गया और अनगनित कारों की अनुमति ले आया। आठ कारों में निज परिवार के व्यक्ति, पू० स्वामी जी व पू० महाराज जी के संग हम सभी लोग दाछी गाँव पहुँचे। दाछी गाँव का आनन्द बहुत विलक्षण था, इन दो सिद्ध महापुरुषों के बीच। गोपी-''सुलोचन'' तब छोटा था, उसे क्रिकेट बहुत प्रिय थी और वह बाल और बैट अपने संग लाया हुआ था। कुछ विदेशी शिष्यों के साथ मिलकर क्रिकेट शुरु हुआ। देखते ही देखते पू० महाराज जी



भी Bowling करने आ गए। मुझे तो पहली गेंद में ही Bowld कर दिया पू० महाराज जी Off spinnee करते थे। तब पू० स्वामी जी ने बल्ला मेरे हाथ से लिया। पू० महाराजजी Bating कर रहे हैं और पू० स्वामीजी ने एक अनुभवी खिलाड़ी की भाँति बल्ला सम्भाला। इधर बाल हाथ से छूटा उधर उन्होंने बैट नीचे फेंका और भागे मैदान के बाहर। इतना हँसे पू० स्वामी जी और हम सब। उनकी हँसी आनँद की वर्षा होती थी। एक अन्य अवसर पर पू० स्वामी जी खूब हँसे और कहने लगे ''मेरी हँसी सब से अच्छी होती है।''

इसके बाद १९८८ के जन्म महोत्सव पर जाने का अवसर मिला। केवल सात दिन की छुट्‌टी मिली। पू० स्वामी जी बहुत व्यस्त थे, कुछ अस्वस्थ्य भी। लोग भी बहुत आए हुए थे। इतने पर भी ऐसे लगता था कि उनकी कृपादृष्टि सदा हमारे साथ है। दूर भी होते तो वह अपने पास बुला लेते। लौटते समय पू० स्वामीजी के दर्शन नहीं हुए। पू० प्रभा जी के द्वारा संदेश मिला, ''इस चौखट को प्रणाम कर, नीचे शंकर जी के मंदिर में दर्शन करते हुए जाओ, बाकी बातें देहली में खूब होंगी। मन में कुछ उदासी छा गयी। मुझ से कोई भूल हो गई, कोई अपराध हो गया क्या ? मुझ में अवगुण तो बहुत हैं, फिर भी आपने अपनाया। मैं क्षमा याचना ही करता देहली लौटा।

संत कभी कुछ भूलते नहीं। वह अपने वायदे पर अडिग रहते हैं। एक बार अपनाया तो फिर छोड़ते नहीं। पू० स्वामी जी अमरीका जाने से पहले देहली आए। स्वामी जी में क्या मस्ती छायी हुई थीं। वह दीवानापन शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता। वह एक रंगीली दुनिया में थे, हम समझ नहीं पा रहे थे, उनकी कृपामयी दृष्टि में हम आए, उन्होंने याद किया, अपने पास बुलाया। बहुत बातें हुईं, जो निराशा हुई थी पिछली बार श्रीनगर से लौटते समय, उससे कई गुणा आनन्द मिला श्री सद्‌गुरु के सानिध्य में। देहली से श्रीनगर फोन करना ही कठिन हो गया। स्वामी जी ने तो कृपा ही करनी थी। फोन का तो बहाना सा बन गया। तीन चार बार श्रीनगर फोन करने हमारे यहाँ फरीदाबाद आए।



पू॰ स्वामीजी का आना और पूरे परिवार में, एक तूफानी लहर के समान हलचल मच जाती थी। एक बार जब मैंने सुना पू॰ स्वामीजी आ गये, मैं खुशी से उछला दरवाजा खोल कर बाहर आया। पू॰ स्वामीजी जी ने हाथ उठाये और मैं रुक गया। उन्होंने अपने कर कमलों में मेरे मुख को लिया और मेरा मुख चूम लिये। मैं एक अपूर्व आनन्द में खो गया। कैसा प्रेम पूर्ण तोहफा मिला उनसे जिसकी याद आज भी अह्लादित कर देती है। पूज्य स्वामीजी ने स्वीकार किया कि वृन्दावन पू॰ महाराजजी के दर्शन करने चलेंगे। उनका कहना था कि अब चलो देर किस बात की। दो प्रेमियों का मिलन भी अद्‌भुत होता है, जगत से निराला होता है। जितना समय वहाँ रहे वह पू॰ महाराजजी के संग रहे- अलग कमरे में विश्राम करना उन्हें मंजूर न था। उस आनन्द में पू॰ स्वामीजी ने इतना भोजन पाया जो कि पिछले दस दिन में नहीं पाया होगा। स्वामी जी ने बड़े-बड़े लड्‌डू की मांग करने लगे। पू॰ स्वामी जी को नन्दगाँव व बरसाना के लड्‌डू याद आ गए। सन्त जो वस्तु माँगे और उन्हें न मिले, यह तो असम्भव है। उस समय तो सब हैरान कि अब लड्‌डू बरसाने वाले, कहाँ से लाएँ थोड़ी देर बाद पू॰ महाराज जी ने कहा, '' उस थैले में देखो।'' दो लड्‌डू निकालकर लाए। उन्हें बड़े चाव से उन्होंने पाया।

वृन्दावन से लौटे तो पू॰ स्वामी जी को श्री महेषयोगी के यहाँ जाना था। हमें भी संग चलने को कहा। महर्षि जी के यहाँ वेद पाठ आरम्भ हुआ। स्वामीजी ने छात्रों को कुछ संकेत किया। देखते ही देखते पू. स्वामी जी भावावेश में उठ खड़े हुए, दो कदम आगे बढ़े, नेत्र ऊपर उठे, आसमान की ओर, हाथ ऊपर उठा कर नृत्य करने लगे। उच्च स्वर से गाने भी लगे बड़ अटपटे शब्द थे पकड़ में नहीं आ रहे थे। महर्षि उठे और पू॰ स्वामीजी को अपनी भुजाओं में बाँधकर अन्दर ले गए कुछ दिनों के बाद पू॰ स्वामजी अमरीका चले गये। फोन पर दो बार बात करने का अवसर प्राप्त हुआ। पू॰ स्वामीजीने एक बार कहा ''मैं यहाँ हज़ारों राधा-कृष्ण को, कारों में घूमता देखता हूँ।'' उनकी तो दिव्य दृष्टि थी।



"लाली मेरे लाल की, जित देखों तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल।।"

अमरीका से लौट आए गुरुदेव और श्रीनगर जाने की तैयारी थी। उस दिन उनके दर्शन अद्‌भुत थे। चेहरा स्वर्णरूप था। हल्की सी वाणी में उन्होंने कहा "मैं परम हँस की स्थिति में हूँ।" गुरु देव अपने ईश्वर आश्रम को अन्तिम विदाई दे कर देहली लौटे। कुछ दिन AIIMS में रहे, शरीर बहुत अस्वस्थ था। डाक्टरों ने कम्पलीट रेस्ट के लिये कह रखा था। महाराजजी को समाचार मिला तो वे तुरन्त दिल्ली आये। किसी प्रकार हम जबरदस्ती स्वामी जी के दर्शनों के लिये प्रवेश किया। पूज्य महाराजजी को देखते ही स्वामी जी के चेहरे पर एक हल्की सी मुस्कान आयी। पू॰ ठाकुर जी ने प्रणाम किया तो स्वामीजी ने अपना प्रिय कीर्तन सुनाने को कहा-"नटवर नागर नन्दा भजो रे मन गोविन्दा" ठाकुर जी ने उनके कान में गुनगुनाया था आखरी बार। स्वामी जी ने एक शिष्या को संकेत किया कि महाराजजी को चाय पिलाओ। इतनी गंभीर परिस्थति में भी उनका मन जरा भी विचलित न हुआ। ऐसा भान होता था के वे शरीर से बहुत ऊपर उठे हुए हैं। दोनों रस मूर्त्ति एक दूसरे को निहार रहे थे। कुछ दिन के बाद स्वामी जी नोएडा शिफ्ट हुए, जहाँ उन्होंने ने अन्तिम समाधि ली।

गुरुदेव! हम आपके योग्य तो कभी थे नहीं। हम धन्य हुए जो आपने हमें अपनाया। आपने खूंटे से ऐसा बाँधा कि फिर हिलने की इच्छा तक न रही। आपकी कृपा तो तब भी थी और अब भी है। गुरुदेव! आप तो करुणा सिन्धु, सदा उदार, करुणामय, अकारण कृपा करने वाले हैं। हम आपके योग्य न थे, आपने तो अकारण कृपा की। आपने हमें अपनाया, मार्ग दर्शन कराया। अपने खूँटे से ऐसा बाँधा कि, अब हिलने की इच्छा ही नहीं। अब तो सदा आपके श्री चरणों में निरन्तर प्रीति की वृद्धि होती रहे । श्री ध्रुवदास जी के शब्दों में –

"बढ़ै प्रीति की रीति बीच कछु होय न बाधा"

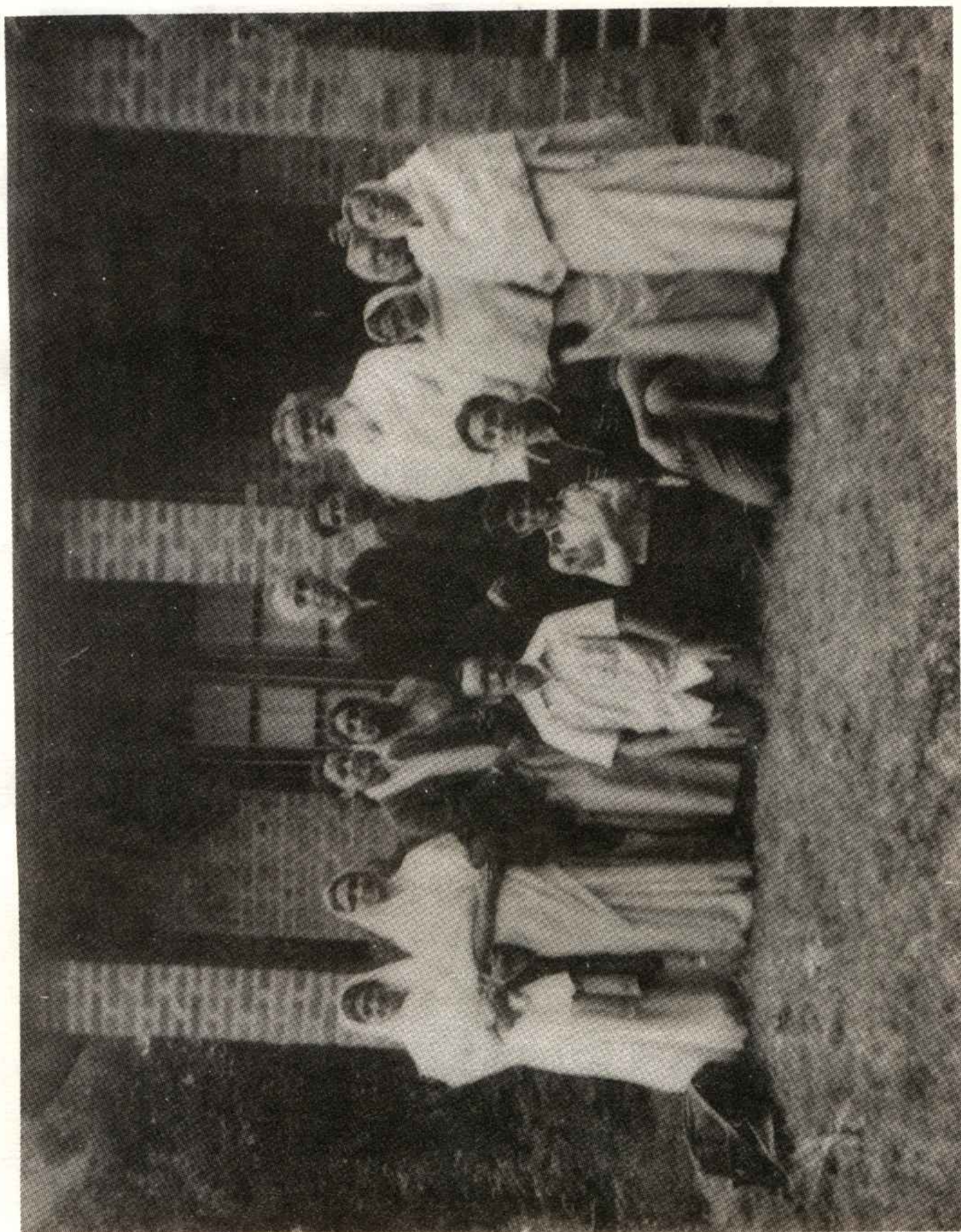
आपकी वह मधुर मुस्कान युक्त झलक, सदैव मन में व नेत्रों में छलकती रहे। बस यही भीख दीजिए, श्री गुरुदेव !

''जय गुरुदेव दयानिधि ,
भक्तन के हितकारी ,
जय जय मोह विनाशक ,
भव बन्धन हारी।
जय गुरूदेव दयानिधि -----------

जप तप तींथ सयंम नाना ,
गुरू बिना नहीं होत कल्याना ,
वेद पुरान करत बखाना ,
गुरू की महिमा भारी।
जय गुरुदेव दया निधि -----------

तन - मन - धन सब अर्पण ,
गुरू चरणन कीजे ,
ब्रह्मानन्द दया निधि ,
अपनाकर लीजे।
जय गुरुदेव दया निधि -----------''

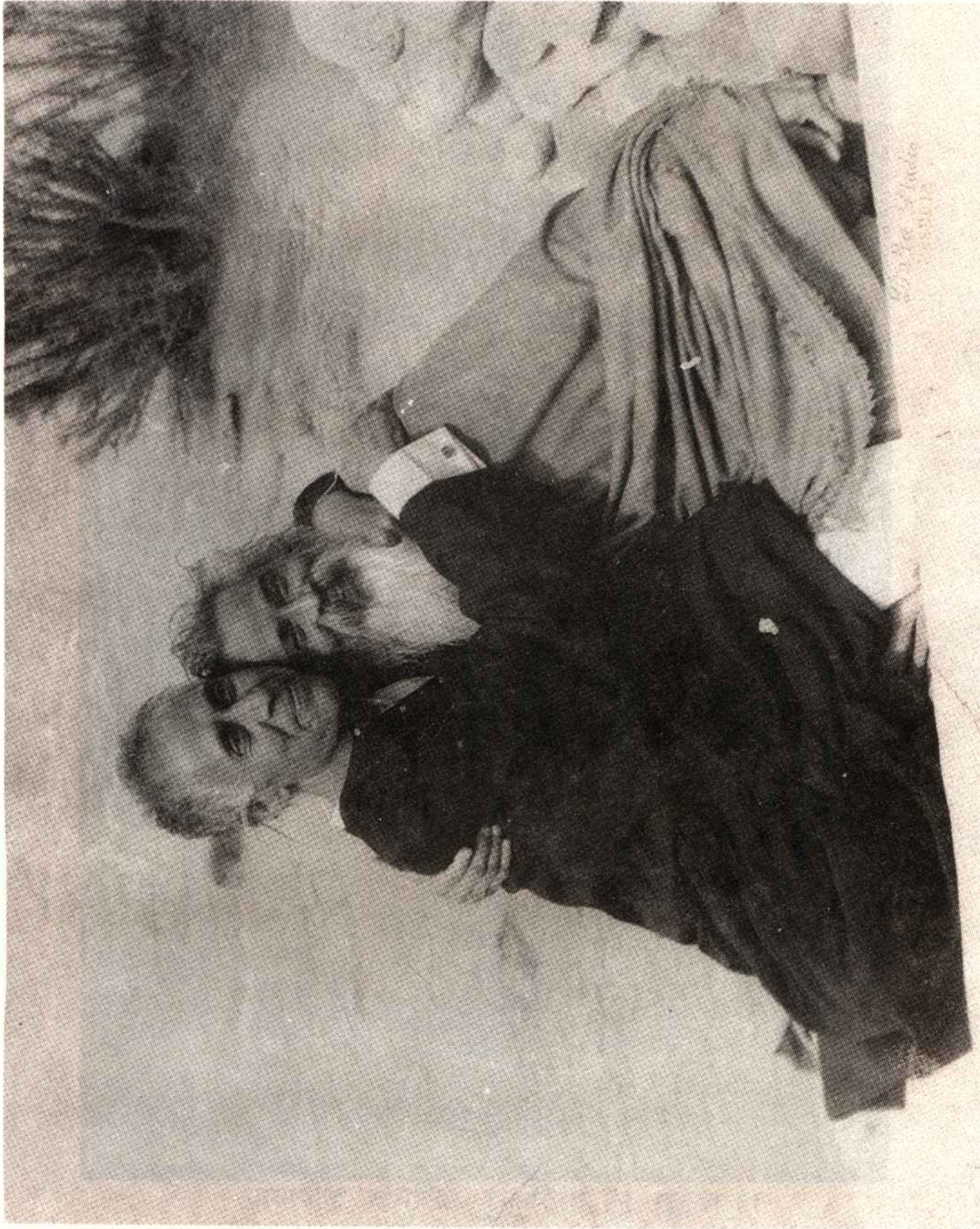




निज परिकर



दोनों शंकर पल पर



'डकसून' में विचित्र मिलन

शंकर पल में स्नान



काश्मीर सौरभम्

डा० बदरीनाथ कल्ला,
१३३४/१६, फरीदाबाद

१. अहो! सुन्दरमुद्यानं कुङ्कुमपुष्पवासितम्।
वसन्ततौं कथं नष्टं झम्झावातेन सांप्रतम्।।

२. कीदृशी वाटिका रम्या पुष्पमाला विभूषिता।
अनभ्रवज्रपातेन शोभा ह्यस्या अपाहृता।।

३. नौमि मीनासनां देवीं वितस्तां पापहारिणीम्।
हरशूलसमुत्पन्नां पार्वतीरूपधारिणीम्।।

४. स्मरामि कश्यपं देवं नीलनागं नृपोत्तमम्।
आचार्याभिनवगुप्तं शैवशास्त्रविशारदम्।।

५. मम्मटं वसुगुप्तञ्च सोमानन्दं तथोत्पलम्।
श्रीवरं जोनराजञ्च शुकं मुक्ताकणं तथा।।

६. कैयटं भामहञ्चैव उद्भटं भट्टनायकम्।
दामोदरं जयरथं कल्हणं बिल्हणं तथा।।

७. क्षेमेन्द्रं क्षेमराजञ्च विमलाक्षं हि मंखकम्।
आनन्दवर्धनाचार्यं सोमदेवं जगद्धरम्।।

८. कल्लटं भल्लटञ्चैव रुय्यकं जल्हणं तथा।
रत्नाकरमत्रिगुप्तं श्रीभट्टं भट्टरक्षकम्।।

९. गोनन्दं ललितादित्यं नरेन्द्रं मेघवाहनम्।
जयापीड़ं जयसिंहं रणादित्यं नु पुङ्गवम्।।

१०. नृपमवन्तिवर्माणं प्रवरेशञ्च भूपतिम्।
राज्ञीं यशोवतीञ्चैव कोटराज्ञीं तु मानिनीम्।।

११. प्रयागं मधुमतीञ्चैव विजयेश्वरमेव च।
भृङ्गीशं गौतमञ्चैव शारिकापर्वतं तथा।।

१२. राज्ञीं तु तुलमूलस्थां ज्वालादेवीं 'ख्रिवे'स्थिताम्।
गिरिगह्वरमध्यस्थं अमरेशं शिवं तथा।।

१३. नौम्यहं शारिकादेवीं शारिकारूपधारिणीम्।
प्रद्युम्नपीठमध्यस्थां बकासुरविनाशिनीम्।।

१४. स्मरामि शारिकादेवीं शारिकारूपधारिणीम्।
लक्ष्मणस्य प्रियां शिष्यां ईश्वराश्रमवासिनीम्।।

१५. पाकेनाधिकृतं क्षेत्रं कश्मीरस्य प्रतिष्ठितम्।
कृष्णगंगा समीपस्थं 'शारदामठ' नामकम्।।

१६. कर्मशीलं कृपारामं मार्त्तण्डक्षेत्रवासिनम्।
भयकम्पितहिन्दुभ्यो जीवनस्य प्रदायकम्।।

१७. दानवीरं कर्मवीरं सिक्खानां दशमं गुरुम्।
गुरु तेगबहादुरं हिन्दूधर्मस्य रक्षकम्।।

१८. स्मरामि तं हुतात्मानं शरणागतवत्सलम्।
अभयदानदातारं जाल्मसंहारकारकम्।।

१९. रामस्वरूपं श्रीरामं दिव्यमाहात्म्यमण्डितम्।
शैवाचार्यं महात्मानं ब्रह्मज्ञानप्रदायकम्।।

२०. अध्यात्ममार्गनिरतं विद्याधारं विद्याधरम्।
ज्योतिरूपं महाताबं गोविन्दं गुणसंयुतम्।।



२१. शैवदर्शनमर्मज्ञं लक्ष्मणं दिव्यलक्षणम्।
नवमभिनव गुप्तं ज्ञानपीयूषपायिनम्।।

२२. अद्वैतवादनिष्णातं तंत्रशास्त्रधुरन्धरम्।
हिमालयप्रियं पुत्रं कश्मीरजस्य सौरभम्।।

२३. भगवन्तं गोपीनाथं मौनमुद्रावस्थितम्।
ध्यानानिष्ठं ज्ञाननिष्ठं वैरवुरीयारवासिनम्।।

२४. जितेन्द्रियं सुविज्ञानं रागद्वेषविवर्जितम्।
रुद्ररूपधरं सिद्धं श्वेतभस्मविभूषितम्।।

२५. रणवीरं महाराजं रणनीतिविशारदम्।
रघुवंशस्य तिलकं देववाण्याः प्रचारकम्।।

२६. हरिसिंहं लोकहितं डोगरावंशदीपकम्।
नृपं विलयकर्तारं कश्मीरस्य तु भारते।।

२७. तद्राज्यं सर्वत आसीत् समृद्धं शान्तिदायकम् ।
रघुवंशानुकूलं हि लोककल्याणकारकम्।।

२८. नौम्यहं 'लल्लादेवीं' 'पद्मपुर' निवासिनीम्।
शैवशास्त्रस्यमर्मज्ञाममृत 'वारव' भाषिणीम्।।

२६. स्मरामि 'नुन्दर्षेः' श्रुक्यं 'च्रार' ग्राम निवासिनम्।
ज्ञानामृतरसपूर्णं दिव्यज्ञानप्रदायकम्।।

३०. एषां स्मरणमात्रेण नो मनस्तुष्यति सदा।
देशे देशे संलभन्ताम् प्रेरणां पाठका मुदा।।

३१. संस्कृतवाङ्मये येषामजरममरं यशः।
तारका इव ते भान्ति साहित्यगगने सदा।।



३२. बुधानां यत्र बाहुल्यं तत्र तद्गुणवर्णनम्।
नीलमतादिग्रन्थानां सौरभं सर्वब्यापकम्।।

३३. न यास्यति क्षयं राज्ञां शत्रुक्षयपराक्रमम्।
कवीनां विदुषाञ्चैव योगदानं सदामरम्।।

३४. कुङ्कुमस्य सुगन्धो हि न केनापि निवार्यते।
प्रसारस्तस्य सर्वत्र पवनस्येव सर्वदा।।

('काश्मीरशतक' से)

पद्यों का हिन्दी में अनुवाद :-

केसर कुसमों से सुवासित कैसा था सुन्दर उद्यान।
उजड़ा वह वंसत में तत्क्षण कैसा था आंधी तूफान।।१।।

पुष्प मालाओं से विभूषित कैसी थी सुन्दर बारी।
अनभ्रवज्रपात से सहसा सुषमा नष्ट हो गई सारी।।२।।

मैं मत्स्यरूपी आसन पर आसीन, पापों को नष्ट करने वाली, शिवजी के त्रिशूल से उत्पन्न तथा पार्वती का रूप धारण करने वाली वितस्ता भगवती को प्रणाम करता हूँ।।३।।

मैं (प्रवास में) महर्षिकश्यप, राजाओं में श्रेष्ठ नीलनाग, शैवशास्त्र में निष्णात आचार्य अभिनवगुप्त, मम्मट, वसुगुप्त, सोमानन्द, उत्पलदेव, श्रीवर, जोनराज, शुक, मुक्ताकण, कैयट्ट, भामह, उद्भट, भट्टनायक, दामोदर, जयरथ, इतिहासकार—कल्हण, बिल्हण, क्षेमेन्द्र, क्षेमराज, विमलाक्ष (कश्मीर का बौद्ध आचार्य) मंख, आनन्दवर्धनाचार्य, सोमदेव, जगद्धर, कल्लट, भल्लट, रुय्यक, जल्हण, रत्नाकर, अत्रिगुप्त, भट्टों के (कश्मीरी ब्राह्मणों के) रक्षक श्रीभट्ट, राजा गोनन्द, दिग्विजयी सम्राट ललितादित्य, नरेन्द्र मेघवाहन, जयापीड़, जयसिंह, श्रेष्ठ रणादित्य, महाराजा अवन्तिवर्मा, प्रवरसेन, रानी यशोवती (उपमहाद्वीप में प्रथम महिला शासिका) मानिनी कूटारानी (कश्मीर की अन्तिम



हिन्दू शासिका, शाहमीर द्वारा इसकी हत्या के बाद सुल्तान युग का आरंभ १३३६ ई० १८१६ ई० तक) प्रयाग (शादीपुर में) मधुमती (नदी) विजयेश्वर (प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थान तथा तीर्थ स्थान) भृग्ङ्गीश ऋषि ('भृग्ङ्गीशसंहिता' का रचनाकार) गौतम ऋषि, शारिका पर्वत (वर्तमान हारी पर्वत 'शारिकामाहात्म्य के अनुसार इसका दूसरा नाम प्रद्युम्न पीठ' भी है) को याद करता हूँ।।४ से ११।।

तुलमुल की महाराज्ञी, 'खिव' की ज्वालादेवी, पर्वत की गुफा के मध्य में स्थित 'अमरेश' नाम से प्रसिद्ध शिव को याद करता हूँ।।१२।।

मैं प्रद्युम्नपीठ के मध्य में स्थित, बकासुर को मारने वाली तथा शारिका (मैना) का रूप धारण करने वाली शारिका देवी को नमस्कार करता हूँ।।१३।।

मैं ईश्वराश्रम में रहने वाली श्री लक्ष्मण जी की प्रियशिष्या, शारिका का रूप धारण करने वाली, शारिका देवी को प्रणाम करता हूँ।।१४।।

मैं कश्मीर के प्रतिष्ठित कृष्णगंगा के समीप शारदामठ को याद करता हूँ जो इस समय पाकिस्तान ने अवैधरूप से अपने अधिकार में लिया है।।१५।।

भय से कम्पित हिन्दूओं को जीवनदान देने वाले, मार्त्तण्ड के निवासी, कर्मठ कृपाराम को याद करता हूँ।।१६।।

मैं दानवीर, कर्मवीर, हिन्दूधर्म के रक्षक, शरणागतों के प्रिय, अभयदान देने वाले, जुल्म को खत्म करने वाले, सिक्खों के दसवें गुरु शहीद गुरु तेगबहादुर को याद करता हूँ।।१८।।

दिव्यगुणों से मण्डित, ब्रह्मज्ञान देने वाले श्री रामस्वरूप महात्मा शैवाचार्य श्रीराम को याद करता हूँ।।१९।।

अध्यात्म मार्ग में लगे हुए, विद्या के आधार स्वामी विद्याधर को, प्रकाश स्वरूप स्वामी महताबकाक को, गुणी स्वामीगोविन्द जी को याद करता हूँ।।२०।।



शैवदर्शन के मर्मज्ञ, दिव्यलक्षणों से युक्त, ईश्वर स्वरूप, वर्तमान युगीन नये आचार्य अभिनवगुप्त, ज्ञानरूपी अमृत पिलाने वाले, अद्वैतवाद में निष्णात, तंत्रशास्त्र के धुरंधर विद्वान, हिमालय के प्रियपुत्र, केसर की सुगंध, स्वामी लक्ष्मण जी को याद करता हूँ।।२२।।

खरयार के निवासी, मौनमुद्रा में स्थित, ध्याननिष्ठ तथा ज्ञाननिष्ठ, जितेन्द्रिय, राग तथा द्वेष से हीन, सफेद भस्म से अलंकृत, सिद्ध तथा रुद्र का रूप धारण करने वाले भगवान गोपीनाथ को याद करता हूँ।।२४।।

रणनीति में निपुण, रघुवंश के तिलक तथा संस्कृतभाषा के प्रचारक महाराज श्रीरणवीरसिंह को याद करता हूँ।।२५।।

जम्मू व कश्मीर के सुशासक, कश्मीर का भारत के साथ विलय करने वाले लोकप्रिय श्री हरिसिंह को याद करता हूँ।।२६।।

उनका राज्य रघुवंश के अनुकूल लोगों को कल्याण करने वाला, खुशहाल तथा हर प्रकार से शान्ति देने वाला था।।२७।।

मैं पद्मपुर (वर्तमान-पोंपुर) में रहने वाली, शैवशास्त्र के मर्म को जानने वाली तथा अमृत के समान 'वाखों ' को बोलने वाली लल्लादेवी अथवा लल्लेश्वरी को प्रणाम करता हूँ।।२८।।

मैं 'च्रार' गांव में रहने वाले नुन्दऋषि को स्मरण करता हूँ ,जिनके 'श्रुक्य' (सं. श्लोक) ज्ञानरूपी अमृतरस से पूर्ण तथा दिव्यज्ञान देने वाले हैं।।२६।।

इन महान् विभूतियों के स्मरण मात्र से ही हमेशा हमारा मन खुश होता है। प्रत्येक देश में पाठक इनसे सहर्ष प्ररेणा प्राप्त करें।।३०।।

संस्कृत वाङ्मय में जिन साहित्यकारों का अजर तथा अमर यश है, वे साहित्यरूपी आकाश में हमेशा के लिए सितारों के समान चमकते हैं।।३१।।



जहाँ विद्वानों का संगम हो, वहाँ उनके गुणों का वर्णन होगा। नीलमत्पुराण आदि ग्रन्थों की सुगन्ध सर्वव्यापक है।।३२।।

कश्मीर के राजाओं का, शत्रुओं को नष्ट करने का साहस कभी भी नहीं मिटेगा। कवियों तथा विद्वानों का योगदान सदा अमर रहेगा।।३३।।

क्योंकि केसर की सुगन्ध (खुशबू) को कोई भी रोक नहीं सकता है। वह सदा हवा की तरह हर जगह फैलती है।।३४।।



विमलाक्ष :–

(क) कश्मीर का सुप्रसिद्ध बौद्धाचार्य, ये कनिष्क के शासनकाल में महायान बौद्धधर्म का प्रचार करने के लिए मध्यएशिया गये थे।

(ख) अत्रिगुप्त को सम्राट् ललितादित्य ने कन्नौज से कश्मीर लाया था। विद्वानों के अनुसार यही अत्रिगुप्त आचार्य अभिनवगुप्त का पूर्वज माना जाता है।

(ग) पं॰ कृपारामदत्त-औरंगजेब के शासनकाल में कश्मीरी ब्राह्मणों पर हो रहे जुल्म को खत्म करने के लिए श्री गुरुगोविन्दजी से मिलने के लिए 'आनन्दपुरसाहिब' गये थे। अंत में वे धर्म की रक्षा के लिए शहीद हुए।

(घ) लल्लद्यद-चौदहवीं शती की प्रथमसंत कवयित्री।

(ड) नुन्दऋषि-चौदहवीं शती का प्रसिद्ध संत।



SHRDHARCHAN
PART - II

KASHMIR SHAIVISM

Poojaya Swami Laxman Joo

Kashmir Shaivism is not a religion. It is a philosophy open to those who have the desire to understand it; hence, for its study there are no restrictions of caste, creed and colour.

Kashmir Shaivism is called the Trika philosophy, the three fold science. To clarify, this three-fold science is based on the three energies of Lord Shiva. These three energies are called Para, Parapara and Apara (Superior, Intermediate and Inferior). Para means the supreme energy of Lord Shiva, otherwise known as his subjective energy. Parapara is the medium, the intermediate energy of Lord Shiva; it is called his cognitive energy. The third, Apra is Lord Shiva's inferior energy and is referred to as his objective energy.

In fact, the human being resides in the objective, inferior energy of Lord Shiva. This Trika philosophy of Kashmir Shaivism teaches us how this individual being, immersed in inferior objective energy, can be carried towards the supreme subjective energy of Lord Shiva through his cognitive, intermediate energy. So, the purpose of studying this Trika system is, to rise from objective energy through cognitive energy and finally, be one with the subjective energy of Lord Shiva.

As long as one resides in objective energy, one is the victim of sadness and sorrow and is entangled in the wheel of repeated births and deaths. So, one has to emerge from objective energy and enter into subjective energy in which, one is liberated from all this sadness and becomes absolute in the attainment of final beatitude.

For this journey, Trika thought has laid down three means within the body of cognitive energy, for it is cognitive energy alone that can carry you towards the subjective energy of Lord Shiva. The purpose of cognitive energy is to develop the limited being's capacity and ability to

receive God consciousness. In the body of cognitive energy, as we have said, are three means. The first and supreme means is called "Shambhavapaya". The second, intermediate means is called "Shaktopaya" and third, inferior means, is called "Anavopaya". These means are handled and practiced according to the ability of the seeker.

SHAMBHAVOPAYA

Shambhavopaya is that path on which the "Sadhaka" must rid himself of the recitation of mantras, of "Sadhana" based on breathing, meditation of particular dieties, concentrating on some spiritual thought and so on. He has only to develop his awareness of "I" -consciousness, individual "I" consciousness quickly vanishes, as it is united with God-consciousness, wherein the "Sadhaka" is one with this subjective energy and becomes Jivanmukta (released in life). This path is meant for those seekers who reside the highest level of ability.

SHAKTOPAYA

"Shaktopaya" is the means in which the aspirant, or the seeker, has to develop concentration upon God consciousness, by means of some particular spiritual thought bestowed by the master. Here the "Sadhaka" has to concentrate on that particular thought of God consciousness, without the support of Pranayama, mantra and so on. He must develop God consciousness simply and only by meditating upon this thought. He has nothing to do with the discarded methods. The single thought of God-consciousness will alone carry him to the supreme state of Transcendental Being. Shaktopaya is meant for those seekers who have neither the highest nor the lowest power of meditating energy.

ANAVOPAYA

"Anavopaya" is that means in which a "Sadhaka", who is endowed with an inferior capacity of mind and meditation, must develop God-



consciousness by resorting to meditation on the two breaths, inhalation and exhalation, to the practice of "pranayame", the recitation of mantras and so on. In this third inferior path a Sadhaka has, of course, to develop God-consciousness, but, as he is not gifted with much meditating capacity, he has to seek the support of these inferior methods of pranayama etc. that, finally he may be carried to God-consciousness in the end. Infact, this system of Kashmir Shaivism is based upon Tantras spoken by Lord Shiva. These tantras are divided into three classes. One class is that of the monistic tantras. They are called 'Bhairava tantras'.

The second group of tantras is founded on the Mono-dualistic aspect of Kashmir Shaivism. These tantras are called 'Budra-tantras'.

The third class is based on dualistic Shaivism. These tantras are called 'Shivatantras'.

The philosophy of these tantras was re-originated at the begining of Kaliyuga by the Sage "Durwasa." Many centuries later this Tantric philosophy of Kashmir Shaivism was taught by four great masters in four great schools; 'Pratyabhijyana School'; 'Krama School '; Kula School '; and 'Spanda School '.

'Pratyabhijyana' means recognition—the realisation of what onehas always been in one's essential, timeless nature. This system was expounded in Kashmir by 'Somanand'.

'Krama School' is based in space, time and form. It's purpose is to develop such strength of awareness that one transcends the circle of time, space and form and thus becomes timeless, spaceless and formless. This thought of the Krama School of Shaivism was taught by Shri Erakanatha.

The third school of Kashmir Shaivism is called the Kula system. The purpose of this school is to discard individual energy and to enter into the blissful energy of the totality. This thought was re-originated and taught by 'Sumati Natha' in Kashmir.



The fourth, the 'Spanda' school of this system was re-originated in Kashmir by Vasuguptanath. Spanda means 'vibration' and the system which goes by its name directs the aspirant to concentrate on each and every movement in this world. Even the movement of a blade of grass will carry you to God-consciousness.

Infact, these four schools are not separate from each other. All the four carry the 'Sadhaka' to the one end and that is universal God-consciousness.

This thought of Kashmir Shaivism is so great, so world affirming and universal that it has deeply impressed many western minds also, sorting out as it does,the wonderful vision of this whole universe as nothing but the blissful energy of an all-pervading consciousness, Lord Shiva. Some other time I shall vividly explain more and more of the secrets of Kashmir Shaivism.

KASHMIR SHAIVISM (TRIKA)

Tantras have originated from Lord Shiva (स्वच्छन्द नाथ), revealed by him through His five mouths namely (ईशान, तत्पुरूष, सधोजात वामदेव and अधोर). These mouths represent His five Energies - Consciousness (चित् शक्ति) Bliss, (आनन्दशक्ति)Will, (इच्छाशक्ति)Knowledge (ज्ञान शक्ति and action (क्रिया शक्ति). These Tantras which (अद्वैत) are purely monistic are named as Bhairava Tantras. The thought propounded in these Tantras is called the Trika Philosophy or Shaivism.

This Monistic thought of Tantras was reoriginated in the early period of Kaliyuga by sage "Durwasa," who taught his philosophy to his will-born-son (मानसिक पुत्र) Trambaka Natha and to the later's will born daughter. These two schools of thought are named Trambaka and ArdhaTrambaka schools respectively.

This philosophy, commonly known as Trika-system, is concerned with the three-fold existence-Siva, (The Universal Being) Shakti, (The

Universal Energy) and Nara (The Individual). (नर शक्ति शिवात्मकं त्रिकम्) This three fold system teaches us that, in (अवरोह–क्रम) the way of descending process Siva has become Jiva through his (Energy) and in (आरोह क्रम)the way of ascending process Jiva is again merged in Siva through His (शक्ति) (Energy). So, Siva's Energy (शक्ति) is the means and the link of His going down and coming up to His own nature. This movement of coming down and going up is the Divine Leela (Play) of Lord Siva and nothing else.

''स्वयं बन्धातिदेवेशः स्वयं चैव विमुच्यते ''

Like Vedanta, this system endeavours to remove the innate ignorance that separates the Individual from the Universal. Shaivism also explains that the Universe is just like its creator, absolutely real. So, the universe is the manifestation of God Himself, which is brought about by His Motivating power ''स्वातन्त्र्य शक्ति''. The existence of Siva has therefore to be understood in the very manifestation of the Universe and not in its negation.

Kashmir Shaivism recognises no restriction of caste and creed and has no place for discrimination on this basis. Infact this philosophy is meant for all those who have desire and yearning to attain true knowledge and liberation from the bondage of repeated births and deaths.

This philosophy has been explained in four systems namely, Pratyabijyana System, Kula System, Spanda System and Krama System.

Pratyabijuya System

'Pratyabijyana System' was systematically presented by Shree Somananda-Natha in the 8th century, in his Shiva Drishti-Shastra and is reflected in the Ishwarapratyabijuya Shastra by his disciple Utpaladeva.

Pratyabijuya means, recognising one's self once again. This represents an act by which one realises and re-unites with the Original state (Universal Consciousness).

Infact Universal consciousness is always existing and so meditation is not meant to attain that state, as this state is always there. Meditation is done only for removing dirt and impurity of one's mind and as soon as this impurity of mind is removed, that state of Universal Being shines in full glory.

KULA SYSTEM

The Kula system was presented by Shree Som-Natha towards the close of the 5th century A.D. and is the Highest thought which explains the state of Universal Being, (परमशिव), from which the entire universe arises and into which it merges. This forms the chief doctrine of this system and explains the state of "Transcendental Parma Shiva".

SPANDA SYSTEM

The Spanda system, positively speaking is the power of consciousness which gives life to the senses. Negatively, it is a system in which no pain or pleasure or negation of these exist.

There are 112 ways laid down in the "Vigyana-Bhirawa-Tantra" through which an aspirant can attain the Spanda-state by meditating on the centre of any two acts, mental or physical.

This system was presented in Kashmir by Shree Vasugupta Natha in the 8th century. Kshemraja, the chief disciple of shree Abhinavaguptacharya, in his work, "Siva-sutra-vimarshini", relates that Vasugupta Natha invoked Siva Himself to help him in the disputations with the Budhists, who believed in the negation of Supreme Self. To him Siva appeared in a dream and he was ordered and guided by him to read "Siva-Sutras", engraved on a rock (Shankaropala) at the foot of Mahadeva mountain. There Shree Vasugupta Nath studied and copied the Siva-Sutras and by arguments, based on the teachings of these, defeated the Buddhist thinkers in religious discussions.

KRAMA SYSTEM

Krama system is connected with Rajayoga, mainly touching and explaining Kundalini Yoga. It stresses interdependent actions of "prana" and "mind." In this, perfect control over the mind means perfect control over prana. If a Yogi concentrates his mind on the centre of "Mana" and "Apana," both these breaths automatically cease to function by the force of concentration and rush into (Sushumna) Central Vein. It goes downwards through the path of "Sushumna" and after touching the "Mooladhara Chakra", near the rectum, rises in the form of Kundalini (आनन्द शक्ति) upwards towards the "Sahasrara-Chkra", where it creates consciousness of Bliss (चिदानन्द) and finally raises the Yogi to the state of Universal consciousness (जगदानन्द). It should be borne in mind that the state of (जगदानन्द)Universal Consciousness is the final state (चिदानन्द). Hence, by realising the state of Universal consciousness, one enters and is establishihed in the Kingdom of Parma Siva, the Transcendental Being. So the one who is completly established in the Transcendental consciousness is no longer a disciple, (शिष्य) but becomes (जगद्गुरू) Master and our guide and enlightens the whole Universe. Just as the poisonous effect of a venomous cobra is transmitted to a person from a distance, in the same way a mere glance of the one who has attained the state of Universal consciousness, makes one enter the Kingdom of Transcendental Bliss, or just as with an unintentional touch of the flame of a candle another candle burns with the same splendour and glory. In the same way the intentional touch of the great master, sends the seeker into the same state of Universal consciousness without making the least difference between the master and disciple.

Om Shanti

• • •

OM PARA BRAHMANE NAMAH

Swami "Ishwarswaroop" Lakshman Joo

There is a point betwixt sleep and

waking, where thou shalt be alert without

shaking;

Enter into the new World where forms so

hideous pass,

They are passing , endure, do not be taken by the dross.

Then the pulls and pushes about the throttle

All those shalt thou tolerate

Close all ingress and egress:-yawning there may be;

Shed tears- Crave-implore, but thou will not prostrate,

A'THRILL' passes,- and that goes down

to the bottom:-

It riseth, may it bloom forth - that is 'BLISS';

Blessed being , Blessed being - 'O'

Greetings be to THEE

• • •

PHORISMS OF LORD SHIVA
(English Rendering)
" By Swami Lakshman Ji"

FIRST AWAKENING

चैतन्यामात्मा ॥१॥

1. **Universal Consciousness is one's own nature.**

ज्ञानं बन्धः ॥२॥

2. **Knowing the individual consciousness as one's own nature and not knowing the Universal Consciousness as one's own nature is bondage.**

योनिवर्गः कला शरीरम् ॥३॥

3. **Differentiated perception and the field of individual activities are also bondage.**

ज्ञानाधिष्ठानं मातृका ॥४॥

4. **This three-fold bondage is attributable to and commanded by the Universal Mother while she remains unknown. Hence the field of ignorance comes into existence through Her and not through any other agency.**

उद्यमो भरैवः ॥५॥

5. **To get rid of this triple bondage, such effort constitutes means, which is identical with Bhairava.**

शक्तिचक्रसन्धाने विश्वसंहार ॥६॥

6. **With deep contemplation on the Wheel of energies, the whole differentiated Universe comes to an end.**



जाग्रत्सुषुप्त भेदे तुर्या भोग संभव ।।७।।

7. Such a Yogi, who has accomplished this stage, experiences Turiya (Transcendental God- Consciousness) in other three states also viz. Jagrit (Wakefulness), Swapana (Dream) and Sushafti (Deep Sleep).

ज्ञानं जाग्रत् ।।८।।

8. Common Knowledge (arising out of differentiation) constitutes Jagrit (Wakefulness).

स्वप्नो विकल्पाः ।।६।।

9. Individual differentiated knowledge in the recess of one's own mind is Swapana (dream)

अविवेको माया सौषुप्तम् ।।१०।।

10. Loss of discrimination in the field of unawareness is Sushafti (Deep Sleep).

त्रितय भोक्ता वीरेशः ।।११।।

11. The one who has digested (asscimilated) all these three states in God-Consciousness (Turiya) is the Lord of heroes.

विस्मयो योग भूमिकाः ।।१२।।

12. The Yogic powers here (in this state of being) comprise indescribable astonishment (wonder).

इच्छा शक्तिरूमा कुमारी ।।१३।।

13. For such a Yogi, any desire is indentical with the Supreme Energy (Parvati) of Lord Shiva and hence his desire cannot be checked by any power.

दृश्यं शरीरम् ।।१४।।

14. For such a Yogi, even his own body becomes an extrenous object or the totality of extrenuous objects is constitutes his own Universal body.

हृदये चित्तसंधट्टाद् दृश्य स्वापदर्शनम् ।।१५।।

15. By establishing one's mind in the heart - the Universal Conciousness- the whole world of perpception appears as one's own nature.

शुद्धतत्त्वसंधानाद्वाऽपशु शक्तिः ।।१६।।

16. Or by establisblishing uninterrupted awareness of Pure Supreme Nature, the energy of Shiva is exprienced.

वितर्क आत्मज्ञानम् ।।१७।।

17. For such a realised soul, any ordinary thought becomes the means of realising one's own self.

लोकानन्दः समाधिसुखम् ।।१८।।

18. His being in the ecstatic state of Samadhi bestows Bliss and happi ness to the whole humanity or the totality of enjoyment in the universe constitutes (or comprises) his ecstatic state of Samadhi.

शक्ति सन्धाने शरीरोत्पत्ति ।।१९।।

19. By putting (concentrating) one's mind on Universal energy and body, internal or external, is formed by his mere will. (Such power is attainable by him in two other states also viz. dream and deep sleep).

भतूसंधानभूतपृथक्त्वश्विसंघट्टा ।।२०।।

20. Such a Yogi is capable of (i) helping humanity unbounded by space and time, (ii) casting off his body for specified time-periods, and (iii) manifesting his body at various places simultaneously, by remaining in God Consciousness.



शुद्ध विद्योदयाच्चक्रेशत्वसिद्धि ।।२१।।

21. **When Such a Yogi abstains from such powers, he attains Lordship over the wheel of Universal energies through the rise of pure knowledge.**

22. **By contemplating on Supreme Ocean Self experience of the Univer sal occurs.**

THE END (of first awakening)



SECOND AWAKENING

चित्तं मन्त्रः ।।१।।

1. **Here the mind of a Yogi becomes Mantra.**

प्रयत्नः साधकः ।।२।।

2. **The cause of attaining this Mantra is One's own effort.**

विद्याशरीर सत्ता मंत्ररहस्यम् ।।३।।

3. **The state of totality of knowledge is the secret of Mantra**

गर्भे चित्त विकासो ऽविशिष्ट विद्यास्वप्नः ।।४।।

4. **When a Yogi's mind remains satisfied in cosmic powers, his Samadhi is as good as, ordinary dreaming state.**

विद्यासमुत्थाने स्वाभाविके खेचरी शिवावस्था ।।५।।

5. **At the rise of natural (Pure) Supreme Knowledge, the State of Shiva, residing in the ether of God-consciousness, is attained.**

गुरूपायः ।।६।।

6. **For such attainment, the means is the Master- the Guru.**

मातृका चक्र संबोधः ।।७।।

7. **When the Master is pleased, the disciple attains the Knowledge of the wheel of Universal Mother.**

शरीरं हवि ।।८।।

8. **For such an attainment a Yogi has to offer all his three bodies of wake fulness, dreaming and dreamlessness as oblations into the fire of Universal God-Consciousness.**

ज्ञानमन्नम् ।।९।।

9. **For him the differentiated knowledge is the food he assimilates into undifferentiated knowledge or the undifferentiated knowledge constitutes his food, yielding him fullness and peace in his own nature.**

विद्या संहारे तदुप्यस्वप्नदर्शनम् ।।१०।।

10. **By out stepping his own nature of True Knowledge, at the time of entering into God-Consciousness, i.e. Turiya, he ill-fatedly enters into dreaming state.**

THE END (of second awakening)



THIRD AWAKENING

आत्मा चित्तम ।।१।।

1. **Here mind is the nature of the individual being.**



ज्ञानं बन्धः ।।२।।

2. Differentiated knowledge of pain and pleasure is bondage.

कलादीनां तत्त्वानामविवेको माया ।।३।।

3. Ignorance of the essence of Universal action and Universal knowledge is illusion -the Maya

शरीरे संहार कलानाम् ।।४।।

4. So one has to absorb the individuality of principles (Tattwas) in one's own body successively viz. absorb the five elements into five tanmantras, those in turn into the five organs and finally integrate them in the Supreme God- Consciousness.

नाड़ी संहार-भूतजय-भूतकैवल्य-भूतपृथ्क्त्वानि ।।५।।

5. A Yogi must develop the power of absorbing prana and apana into Sushamna - the middle path, of Lord-ship over five elements, of isolating one's own self from the five elements and residing in the field beyond the five elements.

मोहावरणात्सिद्धिः ।।६।।

6. Such powers appear only when the veil of ignorance falls in the way of entering into Pure God-Consciousness.

मोहजयादनन्ताभोगात्सहजविद्याजयः ।।७।।

7. By obtaining victory over such an illusion of cosmic powers and by enjoying the state of limitless being, the pure and Supreme Knowledge manifests.

जाग्रद्वितीय करः ।।८।।

8. For him the state of wakefulness (jagrit) is secondary (beam) of God-Consciousness.



नर्तक आत्मा ।।६।।

9. For him, the actor, who plays in the drama of universe, is his own self.

रङ्गो ऽन्तरात्मा ।।१०।।

10. Movement attributed in this totality of Cosmic dance, is nothing other than the Supreme Being.

प्रेक्षकाणीन्द्रियाणि ।।११।।

11. The Spectators in this cosmic dance, are one's own cognitive and active organs.

धीशात्सत्त्वसिद्धिः ।।१२।।

12. Purity and completion of this dance is accomplished by establishing the Supreme subtle awareness of intelligence.

सिद्धः स्वतन्त्रभावः ।।१३।।

13. For him the state of utter freedom exists spontaneously.

यथा तत्र तथान्यत्र ।।१४।।

14. This kind of freedom obtains for him within and without.

बीजावधानम् ।।१५।।

15. Even after such achievement one has to remain aware in contemplating on the seed of Universal being.

आसनस्थः सुखं ह्रदे निमज्जति ।।१६।।

16. So, by being established in such a state, one sinks into the ocean of God Consciousness-Joyously.

स्वामात्रानिर्माणमापादयति ।।१७।।

17. Such a Yogi can create or destroy anything by his Supreme Will.



विद्या ऽविनाशे जन्म विनाशः ।।१८।।

18. When the Supreme Knowledge is well established in an uninterrupted way, the pangs of recurring births and deaths are avoided for good.

कवर्गादिषु महेश्वर्याद्या पशुमातरः ।।१९।।

19. When the awareness of God - Consciousness slackens a bit, the Universal energy disintegrates into innumerable individual energies to carry one away from the Kingdom of Universality.

त्रिषु चतुर्थं तैलवदासेच्यम् ।।२०।।

20. So, the fourth state of Universal being, i.e. Turiya, must be made to permeate the three other states viz. wakefulness, dreaming and dreamlessness.

मग्नः स्वचित्तेन प्रविशेत् ।।२१।।

21. By developing the awareness of one's own nature, he enters and is lost into the Universal God-Consciousness.

प्राण समाचारे समदर्शनम् ।।२२।।

22. After being well established in that state he breathes out that state into the Universal activities. Hence, the differentiation between the self and the Universe is not recognised.

मध्ये ऽवर प्रसवः ।।२३।।

23. If one proves a failure in infusing the state of self in the Universe, he ill-fatedly remains satisfied in his own internal nature.

मात्रा स्वप्रत्यय संधाने नष्टस्य पुनरूत्थानम् ।।२४।।

24. When a Yogi, after developing awareness of God-Consciousness, Transcends the state of Turiya, he enters into Transcendental God Consciousness.

शिवतुल्यो जायते ।।२५।।

25. Such a Yogi becomes one with Shiva.



शरीर वृत्तिर्व्रतम् ।।२६।।

26. For him the austerity is nothing else than the normal routine on physical life.

कथा जपः ।।२७।।

27. And for such a Yogi the daily routine talk becomes the recitation of real Mantra.

दानमात्मज्ञानम् ।।२८।।

28. Such a Yogi gives as alms to humanity his own knowledge of the self.

योऽविपस्थो ज्ञाहेतुश्च ।।२९।।

29. The Yogi, who commands the entire wheel of cognitive and active organs, is the only means of attaining Knowledge of Transcendental God-Consciousness

स्वशक्ति प्रचयोऽस्य विश्वम् ।।३०।।

30. For him the whole Universe is the totality of his own energies.

स्थिति लयौ ।।३१।।

31. Living in this world of ignorance or remaining in the transcendental God-Con sciousness is the totality of one's own energies of Consciousness.

तत्प्रवत्तावप्यविरासः संवेतृभावत् ।।३२।।

32. Such a Yogi, though apparently engrossed in the daily routine of life, is in no way separated from God-Consciousness.

सुखासुख योर्बहिर्मननम् ।।३३।।

33. Because such a Yogi perceives the states of pain and pleasure only superficially, they, in no case, affect his state of Supreme-Being-Consciousness.



तद्विमुक्तास्तु केवली ।।३४।।

34. Hence he is liberated from the states of pain and pleasure and is uniquely established in his own nature.

मोहाप्रतिसंहतस्तु कर्मात्मा ।।३५।।

35. On the contrary, the one who feels the absence of God-Conscious ness in the states of pain and pleasure, is an individual soul and a victim of recurring births and deaths.

भेदतिरस्कारे सर्गान्तर कर्मत्वम् ।।३६।।

36. The one who stands aloof from differentiatedness, becomes the creator and destroyer of the entire Universe.

करण शक्तिः स्वतो ऽनुभवात् ।।३७।।

37. The energy of creating and destroying the whole Universe comes within the experience of such a Yogi, just as an ordinary soul possesses the power to create and destroy during his dreaming state.

त्रिपदाद्यनुप्राणनम् ।।३८।।

38. The state of Turiya God-Consciousness, that comes into experience in the beginning and at the end of the other three states (viz. Jagrit, Swapana and Sushaft), should be infused and transmitted into these three states by firmly establishing one's own awareness during these intervals viz. the beginning and the end thereof.

चित्तस्थितिवच्छरीर करणबाह्येषु ।।३९।।

39. And by developing such a process, a Yogi must transmit the God - Consciousness not only into the three states of individuality but into the entire Universe.

अभिलाषाद्बहिर्गतिःसंवाह्यस्य ।।४०।।

40. By the slight appearance of individual desire, one is carried far away from the state of God- Consciousness.

तदारूढप्रमितेस्तत्क्षयाज्जीव संक्षयः ।।४१।।

41. By firmly establishing one's own self in the state of Turiya, all desires disappear and individuality lost into Universality.

भूतकञ्चुकी तदा विमुक्तो भूयः पतिसमः परः ।।४२।।

42. Such a Yogi is Liberated-in-Life and as his body still exists, he is called "Bhoota-kanchuki" i.e. having his physical body as a mere covering just like an ordinary blanket. Hence he is Supreme and one with Universal self.

नैसर्गिक प्राणसंबन्धः ।।४३।।

43. After remaining in this state of Universal Transcendental God-Consciousness, the functions of inhalation and exhalation, automatically take place with the object that, this whole Universe of action and cognition is united in God-Consciousness.

नासिकाकान्तर्मध्यसंयमात्किंत्र सख्यापसव्यसौषुम्नेषु ।।४४।।

44. When one contemplates on the centre of Universal Consciousness, he experiences this state spontaneously.

भूयः स्यात्प्रतिमीलनम्।।४५।।

45. When a Shiv-Yogi is completely established in God - Consciousness, he experiences this state spontaneously within and without or both.

THE END (of third awakening)



Here ends the English rendering of Aphorisms of Lord Shiva, by Brahmachary Lakshman Jee, Guptaganga, (Nishat), Kashmir (India)

कृपा की वर्षा



MY MASTER



HOW I MET MY MASTER

Bettina Baumer, Vanarasi

**"yaddhibalena visvam Bhaktanam
sivapatham bhati/
tamahamavadhanarupam sadgurum
amalam sada vande"**

(Abhinavagupta, Dehasthadevatacakrastotra)

**I worship that pure Sadguru
whose nature is Awareness,
by whose spiritual power
the universe shines as the path of Siva
for the devotees.**

Mysterious are the ways of the Divine, beyond our thinking, planning and even desiring. As the Katha Upanishad says, unless one is chosen by Him one cannot reach the goal and realize one' s essential nature (c. katha 2.23) With all my intellectual as well as spiritual search for about 20 years in India, I could not have found the real, had He not accepted me as his disciple.

It was the attraction of Indian spiritualty, of the Upanishada and of Sri Ramana Maharshi whichmade me study Sanskrit and then come to India in 1967. I was not only searching through the texts, I was also guided spiritually by competent teachers. And yet, after practising meditation and reading the scriptures for so many years, I could only reach a certain point in my spiritual life and I still felt something lacking. However- I had started reading some of the texts of Kashmir Shaivism along with French translations and introductions by Lilian silburn, a disciple of swami Lakshman Joo. These texts exerted a powerful attraction on me: But it was still in the books and I lacked the practical experience.

I was also fortunate to know personally and even closely both, Lilian Silburn and Thakur Jaideva Singh, Swamiji's scholar-disciples in Paris and Varanasi respectively. Each in their own way, through their books and through their personalities, conveyed something of the mystical spirit of Kashmir Shaivism. It is through them that I felt more and more attracted to Swami Lakshman joo and to this great spiritual tradition. I was basically shy, and when two letters sent to Ishwar Ashram, seeking his permission to come, remained unaswered, Idid not dare to simply go to Kashmir and try my luck. It was only after Jaideva Singh passed away, in May 1987, and since he had entrusted me with the completion of his book "Paratrisika Vivarana," which he had studied with his Master that, I had a concrete reason for going to Kashmir. My prayer in these years preceding my meeting,was very simple but intense: This prayer was more than fulfilled.

Externlly there were two circumstances which made the meeting possible: the publication of "Paratrisika Vivarana" for which I wanted to seek his blessing and guidance, and the fact that I was invited to Srinagar by the Indian Council for Philosophical Research, for a Seminar on Kashmir Shaivism which would bring together all the Indian scholars on the subject. But much more important than the external reasons for going to Kashmir was my internal situation. For, after the death of two of my great spiritual friends, and after the separation from my first teacher, I was in a kind of vacuum. This was perhaps a better condition for meeting my master than any other reason. And yet, l could not know what to expect.

Coming to Srinagar for the first time, and that too with a group of scholars of Kashmir Shaivism, was not only exciting, but I could feel the



elevation and at the same time apprehension, which, remained so characteristic whenever I came to the Master.

It was known that Swamiji received people on Sundays. That first sunday afternoon, the whole group of scholars had a meeting arranged, where they could have his darshan and ask questions. But I was sure that, I wanted to meet him personally before all those intellectuals, because my search was more than intellectual. So I quietly arranged a taxi to take me on sunday morning at 7, possibly before anybody else could reach the Ashram. It was one of those indescribably transparent, beautiful autumn mornings, when the mountains reflected clearly in the Dal Lake, where only a few shikaras were moving calmly. Apples, hanging red on the trees were being harvested. I stopped and bought a basket- full, not to go with empty hands! The air was pure and fresh, more so after a hot, monsoon in Banaras. The mountains were pointing sharply towards the sky. After searching at Guptaganga temple, my Pandit and I finally reached the door of the ashram. A simple wooden door painted in white, with no name on it. By that time it was about 8 a. m. I knocked at the door , which would become so symbolic for me for "entering within" *samavesa*." I was still full of apprehension : Was I worthy to have His darshan ? A boy opened the door and said that this was not the time to meet Swamiji, and we should come in the afternoon. By then I had gained courage and I insisted to see Prabha Devi, to whom I could explain my case. She was kind enough to meet us and I gave the reference of Thakur Jaideva Singh. She understood me. She went upstairs, to ask Swamiji whether he would meet us at this hour. Again I passed some anxious moments. As a Christian, I had never really understood what means "the fear of God"-it was only in the proximity of Swami Lakshman Joo that this expression was filled with meaning.

I cannot recall how many minutes passed, but Swamiji was gracious: He came down the steep stairs from his upper room-a tall upright figure wrapped in deep silence, moving slowly, as if emerging directly from "Samadhi". From his entire body emanated an atmosphere of an extremely subtle, transparent, peaceful and transcendent state which immediately elevated and purified whoever met him and was open to the divine influence. And inspite of the fear and apprehension one would feel in his presence, this transecndent state was paired with great compassion, with a love that was beyond the personal. Within seconds of this first darshan all these feelings came to my mind and the only, and spontaneous reaction was to fall at His feet. He only slowed down his movement, he remained in his natural, silent and transcendent state. He sat down on his usual asana, in the open verandah.I was allowed to sit in front of him, and before uttering any word I could only be merged in this atmosphere of peace, of power and concentration which radiated from him. All the words I wanted to utter seemed so shallow in his presence-but what other means were at my disposal in this first encounter? I spoke about Jaideva singh, about my responsibility to edit and publish his translation of "Paratri sika Vivarana" and seeking Swamiji's blessing for his work. He took keen interest and promised to look through the manuscript before it was published. But all this was only the external connection. At a much deeper level I knew that," I had arrived", that my search was fulfilled. I craved nothing but to be accepted, to be guided and initiated by him. I only dared to ask this question: "Is initiation necessary for understanding Kashmir Shaivism?" Which he answered in the affimative. I had expressed my deepest desire, hoping that one day it would be fulfilled.



Infact, as expected, the afternoon meeting with the scholars of the seminar was of a quite different nature, and Swamaiji became impatient with the purely intellectual questions. I did not care what was said, I remained there in front of the master, absorbed in His presence. Even in his anger and apparent irritation, the same divine power was there in its purity. After this first day, I had a very powerful dream-in fact more than a dream: We were in the same hall at Guptaganga, when the crowd dispersed, I found myslf alone with Swamiji. I fell at his feet in sastanga pranama, but was incapable of getting up. I was like, glued to the ground in total surrender.! Swamiji Himself pulled me up. When I recounted this dream to him, he was happy. It was a sign of confirmation.

It would take about seven months after this first meeting, until I could come to him again and receive what he had promised me. In between it was a time of testing, of physical and mental suffering, until I was found worthy to come in His presence.

The next occasion was his birthday, for which he had invited me explicitly. It was an occasion to learn His ways and the ways of his devotees. Within- me the certainty was growing that-he was my Guru and there was none else in this world, who could carry me to my final destination- which we call God. As he went on testing my sincerity and firmness by rejecting me many times, the inner certainty became still stronger. There was no other way-as the Upanishad says: "nanyah pantha vidyate yanaya". The words of Utpaladeva were so true:

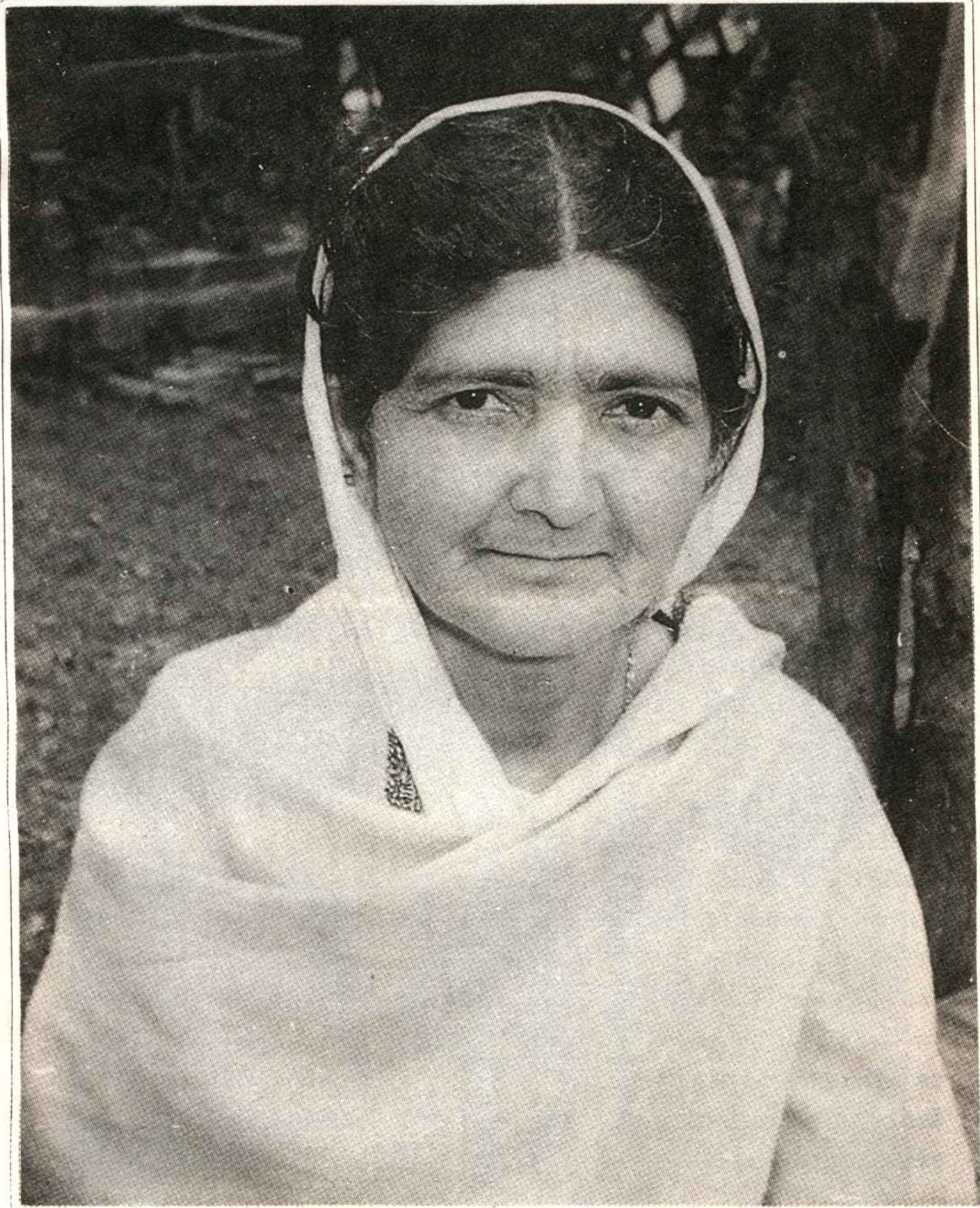
> In whatever state of being-
> Life, death, or anything else-
> may I worship you constantly
> In your imperishable body
> That embraces the whole world
> And consists of the bliss of eternal consciousness.
>
> (Sivastotravali 13.3)

Finally came the appointed day-and only later did I realize how fortunate I was, to be accepted in such a short time. On the day of my initiation, there were only few people in the Ashram. He sent them all away and finally I was alone with my Master, in the 'mandapa', in the garden. At that blessed moment he gave all his attention, and the indescribable happened. It was pure recognition- 'pratyabhijan'. No complicated ritual, no more testing, but the direct transmission in its total purity. Tears of joy and purification were flowing, the burden of so many lives was, as if lifted, and I felt light—like a feather. He opened the door and removed all the obstacles, so that I could enter within- Samavesa.

I was more and more led to see the divinity in the Master, to watch all his actions, words, moods, and above all his powerful silence as an expression of his divine state. His piercing look could destroy the ego which was interfering all the time. It was like a laser ray in modern medicine, which can pierce and touch the point of the disease-but in order to liberate and to heal.

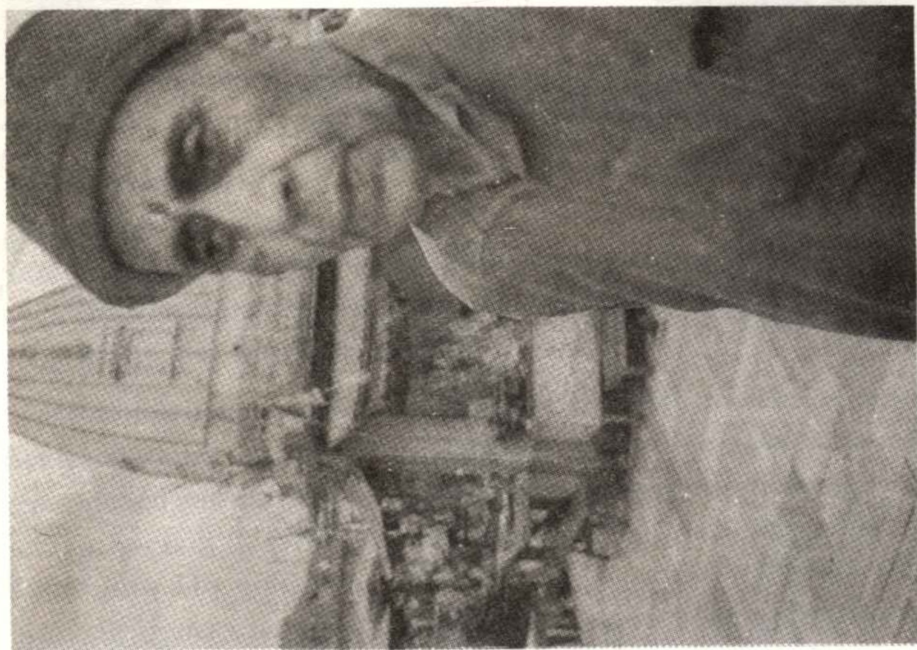
And with all that, with his incredible power, there was the perfect naturalness, the utter simplicity, the overwhelming sense of joy and humour, and the love and care for his devotees, his generosity. In his perfection he in incarnated all the high ideas of Kashmir Shaivism, not consciously, but spontaneously.

Books will have to be written on this great Master who, along with Sri Ramana maharshi and Ma Anandamayi, will remain as one of the enlightened and enlightening beings of the 20th century. But those who had the incredible fortune to have met him, to have been near him and to be blessed by him, have the sacred duty to carry on the flame of the inner awareness, now that the Master is no longer in his physical body. This is only the beginning !



शरिकादेवी जी





अन्तिम विदाई देते हुए

Me and My Guru Dev

Motilal Sopory

"Mamu jee", as we children used to address him. That was the relationship I had with Gurudev Shri Swami Ishwar Sarup jee. Two peculiar things about Swami jee, used to strike me in my early childhood. He was a bachelor, unlike his brothers, both elder and junior, and that he did not live in his parental house. This was situated in Fateh Kadal, where the rest of Swami jee's family: his parents, brothers, sisters, sisters-in-law, other cousins and dozens of children used to live. For Swami jee there was a separate house, about a quarter of km. away. The location was called 'Marbal'. This house was situated on the banks of some interior water bodies of the famous Dal Lake. The atmosphere at this place was really superb. Even at this stage of my life, when I want to concentrate, I visualise Swami jee sitting on a folding easy chair, on the lawns of this house and I sitting in front of him on the plush green grass, gazing at him. The scene becomes so vivid, that left to myself, I would not like to come out of it.

I recall an event at 'Marbal'. In 1935-36 Prabha Devi jee and myself, both around 10 or 11 years of age, were at 'Marbal'. Swami jee asked us to memorise some slokas of ' Sangrah Stotra' and if we did that, he would give us a ' Kandi Kulcha ' a sort of a Kashmiri cake. Both of us started on the job, without of course disturbing the peaceful atmosphere prevailing there, and did that to the entire satisfaction of Swami ji. We of course got the promised reward, but along with that a realization that Swami ji was not only our 'Mamu jee' but much more than that. I realized that he was a personality, quite different from my other 'Mamus'. He appeared to me to be a guide who could lead us from darkness to



light and put us on the right path. As time passed, the 'Mamu' in him faded away, giving place to a divine soul - Swami Ishwar Swarup ji Maharaj - a name given to him by Devi Sharika ji. Never thereafter, did I address him as 'Mamu ji'. Whenever I had an occasion to visit my 'Nanihal', I would invariably visit 'Marbal' also.

In those days i.e. early thirtees, Swami ji had interaction mainly with the members of his family, who would visit 'Marbal', His Guru Shri Swami Mehtab Kak ji and Shri Maheswar Razdan ji, who taught him Sankrit. He did not have the usual schooling except upto 8th or 9th standard. His eldest sister 'Jigri' used to relate anecdotes about Swami ji, so graphically that, we children would sit around her and listen to her with rapt attention. We would listen to the events such as when Swamiji was born and how Swami Ram ji, his Param Guru, would shower blessings on our Guru Dev. Even in his boyhood Swami ji used to tell his sisters both elder and younger and other cousin that he is in search of 'Bade Bab' - the over Lord of all Lords. Even in his cradle he used to get in a trance. On one such occasion, when the mother of Swami ji noticed the infant baby motionless in his cradle, she rushed to Ram ji, in her anxiety to tell him about the event. Swami Ram ji is reported to have smiled it away and instead, asked her to put some butter on the head of the ' infant Swami jee' with the instruction that she should on such an occasion neither get perturbed, nor disturb the baby.

Swami Ram ji was aware of the greatness of the infant. Even when the mother of Swami ji was in the family way, Swami Ram ji had pronounced that a great soul was coming into this universe. It was Swami Ram ji, who gave the name of "Laxman" to our Guru Dev - he being Ram him self! The spiritual relationship between

the two was intimate and complete. They knew each other well enough as the subsequent events speak out. These cannot obviously be described here. These can be the subject matter of a full biography of Swami ji.

It was a land mark in the life of Swami ji when Devi Sharika ji became his first disciple. Devi Sharika ji was the younger sister of my father. It was in the late twenties that Devi ji became ' shishya' of Swami ji. A young girl in her early teens becoming a saint was not common those days. It is not a common event even today! The younger brother of Devi ji, shree Mohan Lal ji Sopory would accompany her whenver she would visit the cottage of Swami ji at 'Marbel'. And in this process Shri Sopory also became a disciple of Swami ji. These two children, sister and brother, were the earliest who had very close proximity and received 'Dikhsha' at the hands of Swami ji. While the sister chose to be a saint, as destined, the brother had to become a 'grahsti' as ordered by Swami ji.

My father objected to the encouragement which Devi Sharika ji received from our Guru Dev, to choose the path of a hermit. 'He felt that' this would jeopardise the prospects of her marriage. My father sent a letter to Swami ji using strong language. I would like to quote from the reply which my father received from Swami ji in 1928.

"Thy respected self does not understand the now-a-days situation of blessed Sharika. She should not be advised by thyself in such a way, for her flaming Bakhti towards the lord of lords has totally defeated the whole Mayavic universe. Thy respected self, may, I fear, commit sin in advising her in future in such a way. I do not mean to say that you should allow her to come to my

cottage; that you should never do, but what I mean is that now-a-days she is very weak in her physics (Swami ji meant physique) and by marrying her Heavenly whims, thy respected self may I fear, prove the end of her precious and devotional life also. Sir, such Devis are rarely found in this world of pains. Her holy existence in your own home will prove the result of thousands of good ' Karmas' of the past janmas if she lives long. Dear Jawahar Lal ji do not get deep in the sayings of others."

This letter has been preserved as a treasure, first by my father who received it, and later by me - till date. I had an occassion to show this letter to Swami ji once. He was surprised and remarked that I had preserved this letter for so long!

My father and his parents, had to yield after receiving Swamiji' latter. Devi Sharika ji became the soul of the Ashram. Swamiji's along with Devi Sharika ji and latter Devi Prabha ji lived throughout at the Ashram, severing all worldly ties.

Swami ji was very close to our family, not only because of Devi ji but also because of my grand parents, whom Swami ji respected very much. I hardly recall an important event in our family which was not witnessed by Swami ji to bestow his blessings on us either directly or through miracles. He would also restore emotional balance in our family in the event of a tragedy.

I for one, had a peculiar distinction of living in the company of Swami ji and Devi Sharika ji at the Ashram at Ishber. During my winter vacation, for about 3 months or so, from Christmas to the end of Feburary. I used to shift, along with all my school books and clothes to Ishber and live in the Ashram. I was then in my secondary classes. This was in the winter of 1936, 1937 and 1938. It was really a great opportunity for me to be so close to Swami



ji. There used to be only four of us - Swami ji, Devi Sharika ji, myself and a cook. Devi Prabha ji joined the Ashram later. For days together, we would not see any visitor. Those were the days when there was no bus service to the Ashram. The only convey-ance available was a few tongas, which would ply between Ishber Ashram and Srinagar. On some occasions, Swami ji and I would go to Amirakadal - the main shopping centre of Srinagar, on bicycles, crushing the snow on the boulevard which skirts round Dal lake. Swami ji would on such occasions often lay down a condition that, I would not insist to visit my parental house in the city. This was an order, which was readily accepted. Probably Swami ji wanted to test my endurance to live in seclusion.

I used to enjoy playing with snow. Swami ji would also join me sometimes. A lot of fun would follow when we would throw snow balls on each other without reservation. The time I spent in the ashram in those three winters had a decisive influence to mould my style of thinking and functioning, not only as a student but subsequently as a civil servant. Swami ji's company taught me many a virtue, specially discipline, punctuality, judicious spend-ing and avoiding waste. Moreover it moulded me into a "never-sit- idle " type of a person. It is true with me even today.

As the population of disciples started growing and I joined college and university away from Srinagar, I could not afford to live in the ashram for long durations, as I did in my school days. There were only occasional visits. However, on occasions like the birth day of Swami ji and other yagyas, visit to the Ashram was a must. The birthday of Swami ji was an event by itself. In the later years, four to five thousand people would visit the ashram on this auspicious day. It was really a joy to see Swami ji himself, distrib-uting prasad to his devotees, lined up in devotion for long hours.

On Sunday's Swami ji would teach his devotees. The main theme was Kashmir Shaivism. Entry to the Ashram was restricted on other days. Regular classes were held. Besides this scholars from all over would come to learn Kashmir Shavism. In some cases special classes were held for them. When the classes would be over, all were supposed to leave the Ashram in the evening, barring the permanent inmates of the Ashram.

When I look back on the event and activities of the ashram over the last 3-4 decades, my only regret is that I had to keep myself away, being a very busy civil servant. I had in my mind, decided to re-establish my close contacts with Swami ji and the Ashram activities after my retirement. Somehow I could not venture to attempt any thing unless I could do it seriously. But this was a mistake, because by the time, I could find myself free and fit enough to be whole-heartedly at the service of my master, it was too late in the day.

When Devi Sharika ji got very ill in January 1991, I was summoned to Srinagar by Swami ji. My sister Smt. Sarojani Ganjoo and myself, flew to Srinagar from Jammu on 27-1-1991. Swami ji wanted that Devi ji should be taken to Jammu-obviously as things were not normal in Srinagar. We flew back along with Devi ji on 29-1-1991. Devi ji was made to lie down on the rear seat of the car, to take us to Srinagar Airport. When the car was about to leave, Swami ji made Devi ji sit up. He opened the door of the Amriteswar Bhairav Mandir and asked Devi ji to take darshan of the temple. Devi ji, who was not well at all, neverthless, opened her eyes wide and looked at the temple as ordered by Swami ji. Swami ji also made her look up in a mirror. In a loud voice Swami ji told her to have darshan of 'Sharika Devi' . This also she did. Swami ji then walked out of the Ashram in snow and the car followed slowly for some distance. He then gave us a send off in a manner which implied that, Devi Sharika ji was never to return.

This is what exactly happened. Devi ji achieved 'nirvana' in Jammu on 2-2-1991. Swami ji was promptly (mid night) informed. He along with Devi Prabha ji and others flew to Jammu in the morning hours. Instructions were communicated in advance by Swami ji on telephone that, the body of Devi ji be kept as it is and that he would supervise all the ceremonies himself. This is what he did. When Swami ji reached Gandhi Nagar, he started with a 'Tandav Nritya', in the room where the body was lying. What Swami ji had said about Devi Sharika ji in 1928, in his letter to my father, it was translated on to action on this day by Swami ji himself, by his words and deeds, and the manner in which he performed the puja of the body for the whole day. Everyone around was alert. When the body was being carried, Swami ji moved upto the gate and in a loud voice spoke to Devi ji that he would also follow soon. This happened, the same year in September. Swami ji left his mortal body leaving all of us rudderless.

During the days of Sharika Devi's mourning, Swami ji continued to stay with us at Gandhi Nagar, Jammu. I was able to re-establish the close contacts with Swami ji and I felt the same warmth as I used to feel at Marbel. There I was alone to serve Swami ji but now I was helped by my wife Smt. Asha Sopory. Being a disciple her self, she carried out the orders of Guru Dev very meticulously. The schedule of work was from early morning till midnight. The only rest was Swami ji 's benign presence. During this fortnight, the place was visited by hundreds of people. Due to the Ashirwad of Swami ji and Devi ji, we were not found wanting. Our only regret is that both Swami ji and Devi ji should have lived a little longer. If that were to happen, we would have really come up to their expectations to serve them.

Jai Guru Dev.



The Ascent to the Lord

The Grace of Swami Laksmanjoo Maharaj.

Sarala Kumar

It was the day Man landed on the moon - it was the day my Lord and Master Swami Lakshmanjoo catapulted me into the realm of the Divine, a sphere of which I was hitherto oblivious. May be I had a vague distant premonitious that, there was another dimension to life but suddenly I shed my old self and became a new being. Such was the impact, the revelation, the Grace, the bliss that it defies articulation.

My sister, was a close devotee of our Gurudev. I marvelled at the equanimity of mind with which she faced vicissitudes of life. Even from childhood, I was in search of a spiritual guide but I could not surrender to anyone. And then, as if the time was ripe, I came face to face with our living God. Inexperienced and naive, as I was, I wrote to Swamiji seeking a mantra. My sister was my emissary. Swamiji said that he would give it to me when he met me but I had pleaded so frequently that, He relented and sent me the mantra by post. I sat down with my mala but nothing happened.

Then our Master came to Delhi and I sought an appointment. When I went to the place of his residence, he was not there. I tried again and still could not get his Darshan. I was sure that he was testing me. Was my resolve firm enough? The third time he kept the appointment- for me it was my tryst with the Divine.

Uninitiated and unacquainted as I was with the norms that should be observed when one seeks the Divine Path, I did not take any offering of flowers, fruit or sweets. How foolish I was! I was at the threshold of the temple of Lord Bhairava and did not have the sense of carrying a token thanks giving. I only carried a heart that was sincere, and was searching and He knew it !



He sat with a smile playing on his face- the picture of purity, the essence of the Supreme, the very Lord manifested on Earth. I do not know what happened - he only looked at me and gave me the same mantra that he had sent by post. But some miracle had occured ! The floodgates of joy suddenly opened within me. I was carried to another realm. I was wonderstruck ! Suddenly I heard him say, "Sing a bhajan as guru-dakshana!" Imagine, he lifted the opprobrium of my shameful conduct with such supreme graciousness.

I returned home as if in a daze. Fortunately, I was alone. For three days and three nights I could not sleep. Yet I was as fresh as a daisy. I was floating on ether. I could not hold my tears. The only refrain which came back again and again was :-

तुमरो छाड़ दूसरी गति नाहीं।
सोवत जागत शरण तिहारी।।

After some weeks I went to Lucknow, where my husband was posted. There too, I was bathed with this effulgence, this indescribable lightness of being, the presence of 'anotherness' within me. Yet to the outside world I was the same old Sarla.

More than twenty-six years have gone by since that first 'Shaktipat'. I returned to Srinagar whenever I could, for my Gurudev's darshan. Again and again he showed me the path. Sometimes he reprimanded me severely. He also gave me the " nirakara dhyana", two years after he had first blessed me. He always showered his blessings on me.

Four days before he shed his mortal frame, he was aware of the devotees around him. Most of the time he was in "Samadhi". I knelt by his bedside along with my sister and my dear friend and guru-behan Bettina. I was not thinking of his pain as he was beyond it. Selfish as all humans are, I was begging for His grace. He gave me such a piercing



look- Oh how can I ever forget it!

Finally, when he gave up his physical form and took "Mahasamadhi", I felt bereft, lost, rudderless, and desolate. But gradually he came and held my hand, He beckoned me and said, " I am here with you always, you only have to think of me." How true He has been to His promise. He devises means whereby I can take one more step towards Him. The path is long, the terrain is wild and difficult but I do not despair as He is with me.



ईश्वर सर्वभूतानां हृद्येष वसतेऽर्जुन।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।।



तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
मत्प्रसादात्परां सिद्धिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।।

(श्री भगद्गीता)





" A single grateful thought towards Heaven is the most complete prayer." (Gotthold Lessing)

Jai Guru Dev

Dr. Sudhir Sopory

J.N.U New Delhi

There lived a Saint in an ashram, at Ishber village near Nishat, in Srinagar, who through Divine grace and His own power, practice of yoga, learning and meditation had achieved the state of supreme God-consciousness; The state of Param Shiva. He was in unison with the origin of thought process, a liberated -in life yogi and who remained established in the centre of light and darkness, wakefulness and sleep. An exponent of Kashmir Shavism and philosophy of Vijana Bhirva and Trik-Shastra. This saint was our beloved Guru Maharaj Swami Laxmanjoo. All his disciples addressed him as Ishwarswaroopji or Gurudev. Ishwarswaroopji was Shiva in all its aspects as described in the words of Sh. Somanand Nathji.

अस्मद्रूपसमाविष्टः स्वात्मनोत्मनिवारणे ।
शिवः करोतु निजया, नमः शक्त्या ततात्मने ।।

The association of Ishwarswaroopji with my family dates back to the time of my grandfather. His eldest son was married to Swamiji's elder sister and two of his daughters became stout devotees of Ishwarswaroopji and remained with Him all their life. Sharika Devi was God perceiving soul from her childhood and later got enlightened as Supreme Shakti. Her sister, yogini Prabha Devi is now carrying the torch of Kashmir Shavism and has deeply established herself, through meditation, at a higher state of self realization.

Ishwarswaroopji used to visit our house quite often and my communion with Him started from the day, I feel, I developed faculties of perception and memory.

I vividly remember, how everyone in the family would spring into action on the arrival of Ishwarswaroopji at our house. We used to sit before Him with a feeling of devotion, respect and worship. In His Godly presence, one always got a feeling of having received something-bliss, mental peace and satisfaction ! At the feet of Gurudev one lost one's individuality and merged with his Universal presence.

When I was four years, my father passed away. Everyone in the family was shaken and my mother had lost all hopes in her life and felt totally helpless. At this juncture Ishwarswaroopji's firm and Godly assurance that He will take care of all of us, was somewhat like the assurance of Lord Krishna to Kunti.

Three places in Srinagar have left a mark in my long term memory. Our house, the school and college and most deeply the Ashram at Ishber- the old and the new. We used to go to Swamiji's ashram quite often. Once, like some other years, I had gone to Ishber alongwith my brothers. This was just before Shivratri. We were asked by Ishwarswaroopji to clean all the wall-hangings, pictures etc. in the main Hall. Probably seeing that we did a good job, He asked us to clean his books etc. in his personal room. Now, I feel so blessed and proud that I am amongst the few, who got a chance to have entered his room and saw the Master's place of Meditation.

Once my younger brother , Abhinav, was so sick that he could hardly walk. Despite medical attention there were no signs of improvement. One day Ishwarswaroopji came to our house and my mother rushed to him for His blessings. He said," How can Abhinav Gupta stay like that?" Within a few days my brother was on his feet, fully



recovered. There are many such instances when both Gurudev and Sharika Bhagwati have showered their blessings on us.

I must be around 18, when I had gone with my mother to my maternal uncles' place at Dehradun. My mother learnt that Ishwarswaroopji alongwith Deviji and Prabhaji had come to stay for few days at Hardwar. I was asked to go and have His darshan. When I reached there, he told me, like an innocent child, that his shoe had been taken by a monkey, who was sitting on the roof and if I could help ! Later, he enquired about my mother. I was so naive that I asked Him if He could come along with me to see my mother. What a philathropic, magnanimous and humane personality he was ! The scholar, saint and Shiva-in carnate, agreed to join me even though I could get a train ticket of III class compartment. This was the most memorable event of my life—being alone on this journey with my master. Although, I could not enter into any worthwhile dialogue with him, I just sat in silence and mentally worshipped Him.

One day, when I was at Delhi, I received a post-card. This was from Iswarswaroopji acknowledging the receipt of my greeting telegram that I had sent a few months ago on his Birthday. I have kept it as a treasure. Similarly, when I was in Germany I received a recorded message of His blessings. Strange though it may seem, soon after that in most of my research experiments I got success.

I have felt the presence of Gurudev at all times. He is omnipresent, omnipotent and omniscient Shiva. He could penetrate into your thought process since He was one with the source.

Once Sharika Deviji and Prabha Deviji went with me to see Ishwarswaroopji, who had then returned from his trip to Nepal and was staying at Kalka ji. For a short-time Deviji was staying with us, and I was planning to take them to Lotus Temple. When we reached Kalka ji,

Gurudev was extremely happy to see Deviji and Prabha Deviji. Suddenly he called me and said," Have you shown Sharika the Lotus Temple?" I was taken by surprise ! He immediately got up and said, "Let us all go now".

Seeing and feeling His power on many such occassions as one cited above, one accepted the monoistic nature of the world and realized that He must be experiencing Shiva uniformly within and without. He had the extreme willpower of the Supreme.

In this book, all authors have described some of their experiences and incidents. Probably many of us have done so with a motive to record our association with Swami Ishwarswaroopji. Each one has felt his presence and we all feel He has been close to us. This in essence reflects the Divine and all prevasive nature of Shiva which exists in one and all. Iswarswaroopji's perception of the world was His own nature.

In my writing also you would feel that I have tried to reflect on the power of the Supreme Saint and His benovalent nature, to grace persons like me. In reality it is difficult to fathom the depth and measure the heights of such personalities like Ishwarswaroopji. I know,

विज्ञातारमेर केन विज्ञानीयात

"The one who knows all, who can know Him at all".

May His fragrance and presence be always felt by me. I pray to Him to shower His grace, to let me stay at His lotus feet, all my life and thereafter.

Om Namo Shivai.



कृपा ही कृपा



प्रेम के पुजारी



The Swami's Grace

Hirday Nath Jalali -Jammu

In Sept. 1958, I came in contact with Him, through my in-laws. Immediately after my mariage, they took Santosh, my wife and myself for His Ashirwad at Ishber Ashram. Since then, we have been passing each day, each hour nay each moment, with his Grace, on this planet. We cannot imagine how we can live, even for a second, without His grace. It is difficult to describe the episodes, which would throw light about the grace of Swami jee. It would be a praticle of dust describing the Grace of the Sun. I will, however, describe two episodes of his Grace - Universal and individual.

I was transferred to Srinagar, in March 1975, from Jammu. My office was located, on the right bank of Vitista (River Jhelum), in Pamposh on the Bund. My room was facing the river. One afternoon, I did not have much work at the office. I was gazing at the flowing river, through the window. I was admiring the gracefull flow of the river. What great energy the Lord, has bestowed on the river which, when harnessed, can creat miracles! My thoughts immediately went up to Swami Ji - and His graceful energy towards his devotees. The very next moment, my heart yearned to see Swami Ji. I felt, as if He was calling me. I had been to the Ashram only the last Sunday. I had plans to visit again the next Sunday. Why was my mind yearning to see Him so soon? I also realized that, Swami Ji wanted visitors only Sundays. The more I thought about all this, the more impatient I was getting to meet Him. I finally decided to go to the Ashram. I applied for leave and left the office. I was surprised to see, the door of the Ashram open. I entered the Ashram without any difficulty. I found Swami Ji sitting in the varandah, Sharika Devi by his side, in her usual cross- legged posture. No body enquired as to why I had come. Swami Ji asked Prabha Ji to give me a 'Khasoo' . After

having tea Swami Ji said, "Tomorrow we will be going to "Kheer Bhavani". Book a bus for the trip at 10 A.M. Contact other disciples, whomsoever you can, to be at the bus stop by 9.30 A.M., with their lunch". He asked me if I could do this. I said " Yes " , and left the Ashram for Srinagar.

I booked the bus and went to Habbakadal (second bridge as it used to be called). I contacted four desciples and conveyed them Swami Ji's message. They were requested to convey to others. "Why this sudden trip?" - I could not stisfy them as I had no answer myself. Next morning, about thirty disciples reported at the bus stand. Swami Ji reached at 9.45 A.M. We all boarded the bus and proceeded towards Kheer Bhavani. En-route, we had a session of bhajans and recitation of Slokas. We enjoyed the journey in Swami Ji's company.

On reaching "Kheer Bhawani", three or four Pujaris came running towards Swami Ji. After the formal salutations, they requested Swami Ji to solve their problem as they have had sleepless nights. The problem was that, a Muslim saint from Badgan, whose name was Noor Sahib, asked the Pujaris to permit him to enter the inner premises of the shrine. He would not take "no" for an answer. If the Pujaris did not allow him, somebody else would come and take him inside. The Muslim saint was firm and continued to camp outside for the last two days. They requested Swami Ji to find a solution. Swami Ji gave them a smile and told them not to worry. They were asked to do their usual duties. After taking bath etc. we entered the inner premises. After having "DARSHAN" and performing our pooja, Swami Ji then asked me to fetch the attendant of the Muslim Saint. I brought the attendant to Swami Ji, who was sitting outside the steel fencing of the shrine. Swami Ji then asked the attendant to get the Saint to see Him. Swami Ji asked no questions of the attendant. Swami Ji and the Muslim Saint came to the gate of the shrine. Swami Ji stretched his right hand and the Muslim saint also stretched

his right hand. No greetings were exchanged. They just put their right hands into each other and moved towards the shrine. No dialogue took place. They bowed before 'Raigina Devi' without separating their hands. Together they performed three "parikramas" of the sacred "Devi." It was then that the Muslim Saint asked Swami Ji " what could be done about the axe 'तबर' that is showing itself on all the sides?" They continued to hold hands. Swami Ji than said that they have only to go on praying to the Lord and leave the rest to Him. The Muslim Saint requested thereafter that, he would like to take a sip of the spring water. Swami Ji asked for a 'Lota' and a 'Khasoo'. The spring water was fetched up. Swami Ji dropped some water in the 'Khasoo' and offered it to the Saint. The Muslim Saint requested Swami Ji to partake the spring water first. So, Swami Ji drank a part of the spring water and returned the Khasoo to the Muslim Saint, who drank a little of it and returned the Khasoo to Swami Ji. They exchanged Khasoos's three times in this process. Both drinking a little water without putting their lips to the 'Khasoo'. The disciples rushed to get a drop of the spring water that was left. The Muslim Saint then bid farewell to Swami Ji. It may be noted that while the Muslim Saint was taken inside the Holi premises, his desciple was asked to remain outside. Swami Ji was showering universal gracefulness without the barriers of cast, creed, and sex. Swami Ji was in communion with other enlightened Souls. What happend in Kashmir fourteen years later, (for which seeds might have been sown in 1975) must have been known to Swami Ji.

The second espisode - Personal Grace - is about my family. In 1969, I was posted at Udhampur. Our house was near the Dak Bunglow. The road outside, was on a slope. During December Swami Ji had moved down to Jammu, so did Sharika Jee and Prabha Jee. They were living with the Late Shree R.N. Warikoo and Shree Motilal Sopory respectively, in Gandhinagar. I had a meeting to attend in Jammu and was planning



to leave early morning. Before my departure, my wife Santosh, told me to meet Swami Jee.(which I would have done in any case). I was also asked to request Him, on her behalf, to come to Udhampur the next day, and to have lunch with us. I agreed. On reaching Jammu, I first went to meet Sharika Devi Jee. After getting her blessings, I told her that I am going to meet Swami Jee. I also informed them about my wife's request. There was no comment, exept ' Please try !' I went to meet Swami Jee, and offered Him my pranams. I then conveyed the request of my wife, Santosh Jee. Swami Jee refused and said that He had no time. He would, however, stop for a night on his way back to Srinagar. I left with a heavy heart. I went back to Sharika Jee to inform her. Again there was no comment from them and I left for my official meeting. Through over-sight, I had left my diary at their house. After the meeting, I went back to Sharika Jee to collect my diary. Sharika Jee and Prabha Jee were surprised to see me! Naturally, they had presumed that I would be on my way back to Udhampur, after the meeting. I told them that I had forgotten my diary. They told me that they were trying frantically to contact me at the office. It so happened that, both the Devi Jee's had gone to meet Swami Jee, who was resting at that moment. After 15 or 20 minutes Swami Jee got up. He told Sharika and Prabha Devi Jee to contact me as He had decided to go to Udhampur the next day, along with them. Sharika Jee then informed Swami Jee that it would be very difficult to contact me as I would leave for Udhampur after the meeting. She suggested that the visit be put off till all are informed and proper arrangements made. Swami Je was upset. He told them that He had to go tomorrow or he will never be able to visit the Jalali's. Sharika Jee, seeing and understanding the intentions and wishes of Swami Jee, agreed. After returning home, they sent Shree Tara Chand Bhatt to Udhampur to inform my wife and help in making arrangements. I was surprised and thrilled, that Swami Jee had agreed to accept Santosh's request.



Next morning we all travelled together and reached Udhampur at about 10.30 A.M. Swami Jee had tea immediately and at about noon He had His lunch. After resting a while, Swami Jee was wanting to see Udhampur. The two of us went in my car. We drove around the many places of interest. While nearing "Devkee Temple" Swami Jee told me to stop the car. He said that, He wanted to walk to the temple and would return to the house on foot. I was compelled to follow his instructions. reluctantly. I left for my house alone, and parked the car at the back of the house. Shortly afterwords my official Jeep had come from the office, and the driver parked it outside the gate. Swami Jee came after half an hour. He told my wife Santosh to prepare "khawa", (Kashmiree tea) as he had then to leave for Jammu. While Santosh was preparing tea, Swami Jee called my children and asked them to sit in front of Him, on the ground. My son Susheel Ji, age 9 yrs. and daughters Subhadra Jee and Sunaina Jee, sat down. Swami Jee asked Susheel Jee to recite any "shloka". The children recited full stanza of the Sutra that they had memorized. Swami Jee asked all of us to recite the Sutra alongwith the children three times. The recitation was over, the children dispersed, and Swami Jee called for his "Khawa".

Susheel began playing with the stearing of the Jeep. While Santosh was getting Khawa, we heard our driver shout " Sahib jee accident !". What had happened was, as told by our driver Lalu, that Susheel had come out of the jeep. While crossing the road, a military truck had come and Susheel dashed against the front bumper. He rushed to the left side, and was again struck. Susheel fell flat on his belly. The driver in the meanwhile had applied brakes. One wheel had stopped, inbetween his leggs, short of going over his body. On hearing the cries of the driver, I also rushed to the scene.The driver told me that Susheel had met with an accident and that he was lying dead. I started crying. Hearing my cries, Swami Jee and everyone else reached the spot. Swami Jee told me

to lift him in my arms at once. I was overwhelmed with sorrow and I replied, "it is a dead body." Swami Jee in a harsh tone commanded "Lift him in your arms and turn his body." I put both arms under his body and turned him, as directed. There were no blood marks. I checked his head, leggs, ears and there was no sign of blood or any major injuiry. There was just a scratch near his naval. He was however, unconscious . Swami Jee directed to rush him to the State Hospital. Acompanied by Swami Jee, we brought Susheel to the hospital. Xray, was taken. A battery of three doctors were in attendance. They informed us that there was no major problem. The pulse, heart, and lungs were normal. They gave some injections and said that he would regain consciousness within an hour.

Swami ji put Susheel to bed. He told me not to worry and that Susheel would be all right. For the night he wanted that Susheel should be kept in the hospital. He directed me to take Him and others to Jammu in my car. I requested Swami ji if I could be excused and someone else could drive them to Jammu, to which he readily agreed. Soon they left for Jammu.

Susheel regained consciousness after an hour or two. He was discharged the next day and we informed Swami ji. A new life of our only son was given by Swami ji on that fateful day in 1969. This episode indicates the Gracefulness of Swami ji at the individual level. It was clear that while he was having a nap on Thursday, at the Warikoo's, He had full vision of the events to come in my life. Thus He came to our rescue at the nick of time.

All this shows that wherever Swami ji is, He would have vision of all his disciples present, past and future ! He would bless them at all times, if only they had complete faith in Him. It is my belief that, though our Guru Maharaj had Nirvana, He is always with His disciples, believers and devotees wherever and whatever condition they may be. May his blessings be showered on us all.





मुझे बरसाने का दृश्य होलियों का अभी नेत्रों के सामने आ रहा है। विशेष रूप से वहां की लठ मार होली की स्मृति मेरे मन को नये सिरे से मुग्ध कर रही है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि बरसाने की वे सभी देवियां श्रीभगवान् कृष्ण जी तथा माता श्री राधा जी की सखियां ही अवतरित हुई हैं तभी तो वे सभी देवियां बड़े चाव से श्री युगल सरकार की सखियों का संपूर्णतया समावेश करती हुई निर्दय होकर नन्द-गांव की जनता को ज़ोर ज़ोर से पीटती हैं। मालूम पड़ता है यह पीटना वास्तव में पीटना नहीं है यह तो केवल श्रीयुगल-सरकार की सभी सखियों का प्रतिबिम्बात्मक अवतार हुआ है, यतः ज्यों ज्यों वे देविया उनको पीटती जाती थीं त्यों त्यों समस्त नरनारियों में कैसा परमानन्द-प्रद चमत्कार दिखलाई देता है। सच तो



यह है कि वहां की लठमार होली का दृश्य देखते ही मनुष्य परमानन्द-सागर में डूब जाता है और सदा के लिये श्रीधाम- परमधाम में लयीभूत हो जाता है। आहा श्रीधाम वासी सभी

जन कितने भाग्यशाली हैं जो कि श्रीयुगल सरकार के श्रीचरणों का सहारा लिये हैं।

तुम्हारा शुभचिंतक
लक्ष्मण



An Extract from a letter written by Sri Swami Lakshman Joo

Srinagar,
Janmashtami,
Sunday.
1928

Dear Respected Jawahir Lal Jee Sahib,

Your very kind letter in hand for which my one hundred thanks. What bad thing is done by thy respected self for which I should take the opportunity of pardoning? Sir, if there would be any bad thing also, I would, still, never dream to pardon thy respected self, for, I know I am fit for none here in this world of misery.

One sentence in your kind letter, which I am enclosing herewith, could not be tolerated by me. Thy respected self does not understand the nowaday's situation of blessed Sharika. She should not be advised by thyself in such a way, for her flaming Bhakti towards the Lord of lords has totally defeated the whole Māyāvic Universe. Thy respected self may, I fear, commit sin in advising her in future in such a way. I do not mean to say that you should allow her to come to my cottage;- that you should never do, but what I mean is that nowadays

she is very weak in her physice and by marring her Heavenly whims, thy respected self may, I fear, prove the end of her precious and devotional life also. Sir, such Devis are rarely found in this world of pains. Her holy existence in your own home will prove the result of thousands of thy good 'Karmās' of the past Janamās if she lives long. Dear Jawahir Lal Jee! Do not go deep in the sayings of others. Do they sincerely say that ? Certainly not. Thy respected self should come to know that the selfish theory is prevailing in each and every part of this mortal world. Every body pretends to be your helper and friend when you do not want any kind of help and when you are actually cought in pains, nobody will come forth to share with thee in thy pains. One of the great sages of the present age has truely said:-

So-called friends bewitching you
For whose sake all things you do
Are but fetters,-know this true;
Mire not thee, O Nectar's Son!

Those for whom thou roll in mire
For whom thou be sinner, liar
Help thee not in sufferings dire
For thy sins, O Nectar's Son!

Though thou suffer for their sake,
They thy sufferings don't partake;
Thy true progress they do check,
Shun them all, O Nectar's Son!

मेरे क्या अपने प्रयोजन से
लोग जग में नहीं?

Now let me remain silent, than in going deep in this subject. ~~Xxxxx~~

With kind regards I am, Thy own Brother, Lakshman, ...

लिङ्गेऽत्र भक्तदयया क्षणमात्रमेकं स्थानं
विधाय भव मद्विहितां पुरारे ! सर्वेश !
विश्वमय ! हृत्कमलाधिरूढः, पूजां गृहाण
भगवन् ! भव मेऽध तुष्टः ।।१।।
भूमेर्जलात्तु पवनादऽनलाद्धिमांशोः
उष्णांशुतो - हृदयतो - गगनात् - समेत्य ,
लिङ्गेऽत्र सन् मृद-मये-मदनुग्रहार्थं
भक्तवैकलभ्य भगवन् ! कुरु सन्निधानम् ।।२।।

(तीन बार पढ़े)

भगवन् ! पार्वतीनाथ ! भक्तानुग्रहकारक !
अस्मद्दयानुरोधेन सन्निधानं कुरु प्रभो !



इसके पश्चात् यथाशक्ति शिवलिङ्ग - पूजा करें —
अपनी शक्ति के अनुसार।

यह आज्ञा सारे भक्तों के लिए कल्कि भगवान् की ।

